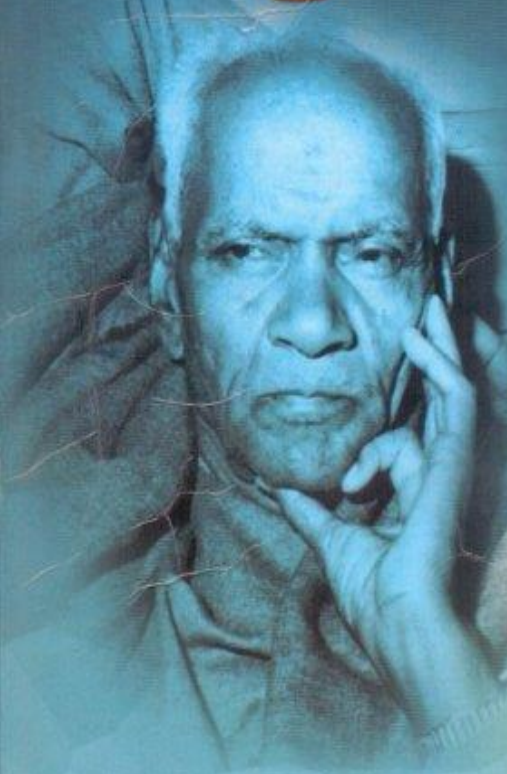


युगगीता

खण्ड-३



निवेदक

डॉ. प्रणव पण्ड्या

युगगीता

(भाग-३)



निवेदक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
ब्रह्मवर्चस



प्रकाशक
श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)
गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्-शांतिकुंज, हरिद्वार
(उत्तराखण्ड) पिन-249411



सन्- 2011

मूल्य- 50.00

युगगीता (भाग-३)



निवेदक

डॉ० प्रणव पण्ड्या

ब्रह्मवर्चस



प्रकाशक

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्रीनगर-श्रीरामपुरम, शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड)



सन्- 2011



मूल्य- 50.00



गायत्रीतीर्थ-शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) 249411

Ph.No.Off.- 01334-260602, 260403, 261328 Fax-260866

www.awgp.org shantikunj@awgp.org

प्रथम खण्ड की प्रस्तावना

गीता पर न जाने कितने भाष्य लिखे जा चुके। गीता दैनन्दिन जीवन के लिए एक ऐसी पाठ्य पुस्तिका है, जिसे जितनी बार पढ़ा जाता है, कुछ नए अर्थ समझ में आते हैं। परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने जीवन भर इस गीता को हर श्वास में जिया है। जैसे-जैसे उनके समीप आने का इस अकिंचन को अवसर मिला, उसे लगा मानो योगेश्वर कृष्ण स्वयं उसके सामने विद्यमान हैं। गीता संजीवनी विद्या की मार्गदर्शिका है एवं एक महाकाव्य भी। परम पूज्य गुरुदेव के समय-समय पर कहे गए अमृत वचनों तथा उनकी लेखनी से निःसृत प्राणचेतना के साथ जब गीता के तत्त्वदर्शन को मिलाते हैं, तो एक निराले आनन्द की अनुभूति होती है—पढ़ने वाले पाठक को, सुनने वाले श्रोता को। उस आनन्द की स्थिति में पहुँचकर अनुभूति के शिखर पर रचा गया है, यह ग्रंथ ‘युगगीता’।

मन्वन्तर-कल्प बदलते रहते हैं, युग आते हैं, जाते हैं, पर कुछ शिक्षण ऐसा होता है, जो युगधर्म-तत्कालीन परिस्थितियों के लिये उस अवधि में जीने वालों के लिए एक अनिवार्य कर्म बन जाता है। ऐसा ही कुछ युगगीता को पढ़ने से पाठकों को लगेगा। इसमें जो भी कुछ व्याख्या दी गयी है, वह युगानुकूल है। शास्त्रोक्त अर्थों को भी समझाने का प्रयास किया गया है एवं प्रयास यह भी किया गया है कि यदि उसी बात को हम अन्य महामानवों के नजरिये से समझने का प्रयास करें, तो कैसा ज्ञान हमें मिलता है— यह भी हम जानें। परम पूज्य गुरुदेव के चिन्तन की सर्वांगपूर्णता इसी में है कि उनकी लेखनी, अमृतवाणी, सभी हर शब्द-वाक्य में गीता के शिक्षण को ही मानो प्रतिपादित-परिभाषित करती चली जा रही है। यही वह विलक्षणता है, जो इस ग्रंथ को अन्य सामान्य भाष्यों से अलग स्थापित करता है।

युग-गीता के प्रथम खण्ड में गीता के प्रथम तीन अध्यायों की युगानुकूल व्याख्या को रूप में परिजन पढ़ रहे हैं। यह शान्तिकुञ्ज के सभागार में निवेदक द्वारा कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन-‘सेवाधर्म में कर्मयोग का समावेश-दैनन्दिन जीवन में अध्यात्म का शिक्षण’ प्रस्तुत करने के लिये व्याख्यानमाला के रूप में नवम्बर १९९८ से दिसम्बर के अंतिम सप्ताह तक प्रस्तुत किया गया था। उनके आडियो कैसेट अब उपलब्ध हैं। लिखते समय इसे जब “अखण्ड ज्योति” पत्रिका में धारावाहिक रूप में (मई १९९९ से) देना आरंभ किया, तो कई परिवर्तन किये गये। उद्धरणों को विस्तार से दिया गया तथा उनकी प्रामाणिकता हेतु कई ग्रन्थों का पुनः अध्ययन किया गया। “अखण्ड ज्योति” पत्रिका के विगत कई वर्षों के कई अंक पलटे गये एवं समय-समय पर उनके दिये गए निर्देशों से भरी डायरियाँ भी देखी गयीं। जो कमी बोलने में रह गयी थी या अधूरापन सा उस प्रतिपादन में रह गया था, उसे लेखन में पूरा करने का एक छोटा सा प्रयास मात्र हुआ है।

“गीता विश्वकोष” परम पूज्य गुरुदेव के स्वप्नों का ग्रंथ है। उसके लिए बहुत कुछ प्रारंभिक निर्देश भी वे दे गये हैं। वह जब बनकर तैयार होगा, तो निश्चित ही एक अनुपम ग्रंथ होगा। उसकी पूर्व भूमिका के रूप में युग गीता को खण्ड-खण्ड में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है; ताकि विश्वकोष की पृष्ठभूमि बन सके। इस विश्वकोष में दुनिया भर के संदर्भ, भाष्यों के हवाले तथा विभिन्न महामानवों के मंतव्य होंगे। वह सूर्य होगा-युगगीता तो उसकी एक किरण मात्र है। युगों-युगों से गीता गायी जाती रही है- लाखों व्यक्ति उससे मार्गदर्शन लेते रहे हैं, किंतु इस युग में जबकि बड़े स्तर पर एक व्यापक परिवर्तन सारे समाज, सारे विश्व में होने जा रहा है- इस युगगीता का विशेष महत्त्व है। कितने खण्डों में यह ग्रंथ प्रकाशित होगा, हम अभी बता नहीं सकते।

इस ग्रंथ से जन-जन को ज्ञान का प्रकाश मिले, इस युग परिवर्तन की वेला में जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन मिले, जीवन के हर मोड़ पर जहाँ कुटिल दाँवपेंच भरे पड़े हैं—यह शिक्षण मिले कि इसे एक योगी की तरह कैसे हल करना है। इसमें लेखक के अपने ज्ञान-विद्वत्ता का कोई योगदान नहीं है। यह सब कुछ उसी गुरुसत्ता के श्रीमुख से निःसृत महाज्ञान है, जो योगेश्वर श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुई, परम पूज्य गुरुदेव के रूप में हमारे जीवन में आयी। यह वह ज्ञान है, जो उनकी लेखनी से निकल पड़ा या उद्बोधन में प्रकट हुआ। गुरुवर की अनुकम्पा न होती, अग्रजों का अनुग्रह न होता, सुधी पाठकों की प्यार भरी प्रतिक्रियाएँ न होतीं, तो शायद यह ग्रंथ आकार न ले पाता। उसी गुरुसत्ता के चरणों में श्रद्धापूरित भाव से इस गीताज्ञान की व्याख्या रूपी युगगीता का प्रथम खण्ड प्रस्तुत है।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना

गीताजी का ज्ञान हर युग, हर काल में हर व्यक्ति के लिए मार्गदर्शन देता रहा है। गीतामृत का जो भी पान करता है, वह कालजयी बन जाता है। जीवन की किसी भी समस्या का समाधान गीता के श्लोकों में कूट-कूट कर भरा पड़ा है। आवश्यकता उसका मर्म समझने एवं जीवन में उतारने की है। धर्मग्रन्थों में, हमारे आर्ष वाङ्मय में सर्वाधिक लोकप्रिय गीताजी हुई है। गीताप्रेस-गोरखपुर ने इसके अगणित संस्करण निकाल डाले हैं। घर-घर में गीता पहुँची हैं, पर क्या इसका लाभ जन साधारण ले पाता है? सामान्य धारणा यही है कि यह बड़ी कठिन है। इसका ज्ञान तो किसी को संन्यासी बना सकता है, इसलिये सामान्य व्यक्ति को इसे नहीं पढ़ना चाहिए। साक्षात् पारस सामने होते हुए भी मना कर देना कि इसे स्पर्श करने से खतरा है, इससे बड़ी नादानी और क्या हो सकती है। गीता एक अवतारी सत्ता द्वारा सद्गुरु रूप में योग में स्थित होकर युद्ध क्षेत्र में कही गयी है। फिर यह बार बार कर्तव्यों की याद दिलाती है, तो यह किसी को अकर्मण्य कैसे बना सकती है। यह सोचा जाना चाहिए और इस ज्ञान को आत्मसात किया जाना चाहिए।

गीता और युगगीता में क्या अंतर है, यह प्रश्न किसी के भी मन में आ सकता है। गीता एक शाश्वत जीवन्त चेतना का प्रवाह है, जो हर युग में हर व्यक्ति के लिए समाधान देता है। श्रीकृष्ण रूपी आज की प्रज्ञावतार की सत्ता “**परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**” को एक सद्गुरु-चिन्तक मनीषी के रूप में हम सभी ने देखा है। एक विराट् परिवार उनसे लाभान्वित हुआ एवं अगले दिनों होने जा रहा है। सतयुग की वापसी के लिए संकल्पित पूज्यवर ने समय-समय पर जो कहा, लिखा या जिया, वह गीता के परिप्रेक्ष्य में स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया गया है। निवेदक का प्रयास यही रहा है कि अतिमानस के प्रतीक उसके सद्गुरु, जिनने आज के युग की हर समस्या का समाधान हम सबके समक्ष रखा, गीता के परिप्रेक्ष्य में बोलते हुए दिखाई दें।

स्थान-स्थान पर गीता की विस्तृत व्याख्या और भी महापुरुषों के संदर्भ में की गई है, पर मूलतः सारा चिन्तन गुरुवर को ही केन्द्र में रखकर प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि लिखते समय निवेदक के प्रेरणा स्रोत वे ही थे। मात्र लिखते समय ही क्यों? हर पल, हर श्वास में वे ही तो विद्यमान रहते हैं। अखिल विश्व गायत्री परिवार के संरक्षक-संस्थापक-एक विराट् संगठन के अभिभावक आचार्यश्री का मार्गदर्शन इस खण्ड में गीता के चौथे अध्याय के संदर्भ में प्रस्तुत हुआ है।

गीता जी का चौथा अध्याय बड़ा विलक्षण है। इसमें भगवान् अपने स्वरूप को पहली बार अर्जुन के समक्ष वाणी द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यह ज्ञान, जो लुप्त हो गया था, सबसे पहले उनके (भगवान् के) द्वारा सूर्य को दिया गया था, किन्तु अब वे युगों बाद द्वार में उसे दे रहे हैं। अर्जुन भ्रमित हो जाता है कि भगवान् का जन्म तो अभी का है, वे देवकी पुत्र वासुकीनन्दन के रूप में जन्मे हैं जबकि सूर्य तो अति प्राचीन है। लौकिक संबंध ही उसे समझ में आते हैं, तब भगवान् उसे जवाब देते हैं कि अर्जुन के व उनके अनेकानेक जन्म हो चुके हैं, जिन्हें वह नहीं जानता पर भगवान् जानते हैं। जब-जब भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब भगवान् धर्म की स्थापना करने के लिए, लीलावतार के रूप में युग-युग में प्रकट होते रहे हैं। इसी अध्याय में सुप्रसिद्ध श्लोक है-“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः भवति भारत.....संभवामि युगे-युगे” (अध्याय ४/७-८) जो हर काल में, हर युग में पीड़ित मानव जाति के लिए एक प्रत्यक्ष आश्वासन है-अवतार के प्रकटीकरण का-उनके अवतरण का। भगवान् अपने जन्म व कर्म को दिव्य बताते हैं और इस ज्ञान की महत्ता बताते हैं कि जो इसे तत्त्व से जान लेता है, वह भगवत्ता को ही प्राप्त होता है।

चतुर्वर्ण की रचना और कर्म, अकर्म, विकर्म संबंधी चर्चा इसी अध्याय में आयी है। यही अध्याय पण्डित को परिभाषित करता है कि वही सच्चा ज्ञानी व पण्डित है, जिसके सभी कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं। कर्मयोग-ज्ञानयोग का विलक्षण सम्मिश्रण भक्तियोग

के साथ इस अध्याय में है, जिसे हम “ज्ञान-कर्म संन्यासयोग” नाम से जानते हैं। विभिन्न यज्ञों की व्याख्या एवं उसमें स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ की महिमा योगेश्वर इसमें अर्जुन को समझाते हैं। कर्म बन्धन से मुक्त होना हो, तो साधक को अपने संपूर्ण कर्मों को ज्ञान में विलीन कर देना चाहिए, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण इस अध्याय को पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। वे कहते हैं कि पापी व्यक्ति चाहे उसने कितने ही घोर पाप किए हों, ज्ञानरूपी नौका द्वारा तर सकता है। ज्ञान से ज्यादा पवित्र इस धरती पर कुछ भी नहीं है, इसे बताते हुए श्रीकृष्ण कर्मयोगी को दिव्य कर्मी बनने, श्रद्धा अपने अंदर विकसित करने और जितेन्द्रिय होने का उपदेश देते हैं। श्रद्धावान को ही ज्ञान मिलता है। संशयात्मा का तो विनाश ही होता है। अंत में श्रीकृष्ण कहते हैं—अपने विवेक को जागृत कर समस्त संशयों को नष्ट कर अपने कर्मों को परमात्मा में अर्पित कर समत्व रूपी योग में हर व्यक्ति को स्थित हो जाना चाहिए। यही इस युग की-हर युग की आवश्यकता है।

ज्ञान गीता का है, शाश्वत है एवं स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निकला-वेदव्यास द्वारा लिपिबद्ध किया हुआ है। निवेदक ने मात्र यही प्रयास किया है कि इस ज्ञान को परम पूज्य गुरुदेव के चिन्तन के संदर्भ में आज हम कैसे दैनंदिन जीवन में लागू करें, यह व्यावहारिक मार्गदर्शन इस खण्ड की विस्तृत व्याख्या द्वारा प्राप्त हो। युगगीता का प्रथम खण्ड पहले तीन अध्याय की व्याख्या के रूप में प्रकाशित हुआ। उस समय मन सिकोड़ने का था, पर क्रमशः अब चौथे अध्याय तक आते-आते यह पूरा खण्ड ही इसकी व्याख्या में नियोजित हो गया। यही प्रभु की इच्छा रही होगी। सद्गुरु को गुरुपूर्णिमा की पावन वेला में एवं साधक संजीवनी के सृजेता-सनातन धर्म के संरक्षक, शताधिक वर्ष तक अपनी ज्ञान-सुधा का पान कराने वाले पं० श्रीरामसुखदास जी को उनके महाप्रयाण की वेला में श्रद्धासुमनों सहित यह खण्ड समर्पित है।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

युगगीता

प्रस्तुत तृतीय खण्ड की प्रस्तावना

योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से निकली अमृतवाणी हर साधक, लोकसेवी, दिव्यकर्मी के लिए एक प्रेरणादायी संदेश है, जिसे ऋषिश्रेष्ठ वेदव्यास ने लिपिबद्ध किया है। प्रथम दो खण्ड में गीता के प्रारंभिक चार अध्यायों की चर्चा हुई है। युद्धभूमि में कार्पण्यदोष से अपने कर्तव्य से विमुख होकर पलायन की बात कर रहे अपने शिष्य अर्जुन को वे आत्मा की अजरता, अमरता, युद्धभूमि में उसके कर्तव्य, अपने अवतार होने के प्रमाण तथा कर्मयोग की दैनन्दिन जीवन में आवश्यकता पर अतिमहत्त्वपूर्ण सारगर्भित उपदेश दे चुके हैं। प्रथम चार अध्यायों विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग एवं ज्ञानकर्म संन्यासयोग में जो कह चुके, वह युगगीता के प्रथम दो खण्डों में प्रस्तुत किया गया।

अब वे पाँचवें अध्याय द्वारा जो अति महत्त्वपूर्ण है, में “कर्म संन्यास योग” प्रकरण में सांख्ययोग और कर्मयोग का निर्णय प्रस्तुत करते हैं, सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा का ज्ञान कराते हैं। फिर वे ज्ञानयोग की महत्ता बताते हुए भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन भी करते हैं। ध्यान योग की पूर्व भूमिका बनाकर वे अपने प्रिय शिष्य को एक प्रकार से छठे अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों द्वारा आत्मसंयम की महत्ता समझा देते हैं। यही सब कुछ परम पूज्य गुरुदेव के चिंतन के परिप्रेक्ष्य में युगगीता-३ में प्रस्तुत किया गया है। इससे हर साधक को कर्मयोग के संदर्भ में ज्ञान की एवं ज्ञान के चक्षु खुलने के बाद ध्यान की भूमिका में प्रतिष्ठित होने का मार्गदर्शन मिलेगा। जीवन में कैसे पूर्णयोगी बनें-युक्तपुरुष किस तरह बनें, यह मार्गदर्शन छठे अध्याय के प्रारंभिक ९ श्लोकों में हुआ है। इस तरह पंचम अध्याय के २९ एवं छठे अध्याय के ९ श्लोकों की युगानुकूल व्याख्या के साथ युगगीता का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण समाप्त होता है।

अर्जुन ने प्रारंभ में ही एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि कर्मसंन्यास व कर्मयोग में क्या अंतर है। उसे संशय है कि कहीं ये दोनों एक ही तो नहीं। दोनों में से यदि किसी एक को जीवन में उतारना है, तो उसके जैसे कार्यकर्ता-एक क्षत्रिय राजकुमार के लिए कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। वह एक सुनिश्चित जवाब जानना चाहता है। उसके मन में संन्यास की एक पूर्व निर्धारित पृष्ठभूमि बनी हुई है, जिसमें सभी कर्म छोड़कर गोत्र आदि-अग्नि-यज्ञोपवीत-शिखा को छोड़कर संन्यास लिया जाता है। भगवान् की दृष्टि में दोनों एक ही हैं। ज्ञानयोगियों को फल एक में मिलता है तो कर्मयोगियों को दूसरे में, पर दोनों का महत्त्व एक जैसा ही है। जो कर्म का न्यास बनादे, कर्म करते हुए भी अकर्म में प्रतिष्ठित हो, कभी जिसकी फल में लिप्सा न हो वह कर्मसंन्यासी एवं बिना किसी आसक्ति के निर्दिष्ट कर्म-दिव्यकर्म करने वाला कर्मयोगी-यह व्याख्या श्रीकृष्ण देते हैं। भगवान् कहते हैं कि इन्हें अलग-अलग नहीं मानना चाहिए। “सांख्ययोगो पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः” (चौथे श्लोक) में कहकर वे मोहर लगा देते हैं कि दोनों एक ही हैं। हो सकता है स्वरूप पृथक्-पृथक् दिखाई देते हों, पर दोनों मार्ग एक ही फल देते हैं, एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।

भगवान् की युगगीता के इस तीसरे खण्ड में यात्रा कर्म से ध्यान की ओर है। पूर्व भूमिका ज्ञान द्वारा बनाई गयी है-आत्मसत्ता की महानता प्रतिष्ठित करके समझाई गई है। सामान्य कर्म जो हम करते हैं वे शरीर यात्रा-सुख आदि के लिए होते हैं। आदमी बंधनों में बँधता है। कर्म में जब विवेक जागता है तो सार्थकता-औचित्य का भाव पैदा होता है। तब ज्ञान का जागरण होता है। फिर क्षुद्र स्वार्थों के लिए कर्म नहीं होते, विराट् के लिए कर्म होने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि अब ज्ञान व कर्म में कोई भेद नहीं रह जाता। ज्ञानयोगी कहता है कि मैं देह नहीं, चित्त नहीं, इन्द्रिय नहीं हूँ- मैं तो परब्रह्म में प्रतिष्ठित हूँ। जब चित्त ही

नहीं तो प्रारब्ध कैसे बन सकेगा ? भगवान् कहते हैं-न इति, न इति । ज्ञानयोगी उनके अनुसार बौनेपन में काम नहीं करता है, वह तो विवेक के आधार पर प्रभु के मार्गदर्शन में तालबद्ध नाचता है । न सांख्ययोगी आसक्तिवश कोई गलत कर्म करता है, न ही कर्मयोगी कोई गलत कर्म करता है, क्योंकि वह भी आसक्ति के दोष से मुक्त है । ज्ञानयोगी तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

रामकृष्णपरमहंस एक कथा सुनाते थे । गाँव में बायोस्कोप वाला आया । वह दिखाता था-रंग बिरंगी दुनिया । वह रंग बिरंगे स्वरूप दिखाकर समझाता था-दुनिया ऐसी है, ऐसी नहीं भी है । थोड़ी देर का खेल है । आत्मा से देखो तो रंग नहीं है । मन से-चित्त से देखोगे तो रंग हैं । ज्ञानयोगी कहता है तत्त्व से समझ लोगे तो मर्म कुछ और ही है । ठाकुर कहते थे कि खानदानी हार में आसक्तियाँ हो सकती हैं । सभी घरवाले उससे भिन्न-भिन्न रूपों में जुड़े हो सकते हैं, पर सुनार नहीं जुड़ा होता । वह तो तत्त्व से जानता है । ज्ञानयोगी बार-बार कहता है कि रूप और आकार में कोई भेद नहीं होता । सारे भेद बेकार हैं ।

भगवान् इस कर्म संन्यास योग में कहते हैं कि सबका मूल है आसक्ति का त्याग, ममत्व से मुक्ति, अंतःकरण की शुद्धि के लिए निरन्तर कर्म एवं आत्मरूप परमात्मा में निवास (५/७) । ऐसा दिव्यकर्मी कर्म करते हुए भी कभी उनमें लिप्त नहीं होता । कर्मसंन्यास योग की यह यात्रा स्वयं में बड़ी विलक्षण है । भगवान् कहते हैं कि देखें, सुनें, स्पर्श करें, सूँघें, भोजन करें पर यह भाव रखें कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में लगी हैं, मैं कुछ नहीं कर रहा, यह है निरासक्ति का भाव । समुद्र में नदियाँ विलीन हो जाती हैं, पर समुद्र को यह भाव नहीं कि वह धारण कर रहा । वह तो वाष्पीकृत कर बादल बनाता रहता है, जो बरसकर वापस नदियों के रूप में उसके पास जलराशि लेकर आ जाते हैं । हम जल में कमल की भाँति रहें । जैसे-जल उसे स्पर्श नहीं करता

ऐसे दैनन्दिन जीवन से जुड़े कर्म-उनके साथ जुड़े संस्कार हमें स्पर्श नहीं करेंगे। हमारे कर्ममात्र अंतःकरण-चित्त की शुद्धि के लिए हों। अज्ञान के द्वारा प्राणि मात्र का ज्ञान आच्छादित है अर्थात् हम अज्ञान से मोहित होकर ही अज्ञानीजन जैसे कर्म कर रहे हैं। जिनका यह अज्ञान परमात्मा के ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया वे अंदर-बाहर से ज्ञान से आप्लावित साधक-कर्मयोगी उसी में अपनी निष्ठा, बुद्धि, मन सभी समर्पित कर पापरहित हो मोक्ष को प्राप्त होते हैं (५/१७)।

दिव्य कर्म करते-करते हम परमात्मा में अनुरक्ति का भाव जगाते हुए, अपना सभी कुछ उन्हें अर्पित कर देते हैं-अपने ज्ञानचक्षु जगा लेते हैं, तो हमें भान होता है कि जो सुख विषयी लोगों को सुख जैसा लगता है वह तो क्षणिक है। दुःख का कारण है। सदैव बंधनों में बाँधता रहता है एवं यह तो अनित्य-क्षणभंगुर है। विवेकवान् कर्मयोगी उनमें अपना ध्यान नहीं लगाता-न उनमें रमण करने की इच्छा करता है (५/२२)। भगवान् यह भी कहते हैं कि शरीर नष्ट होने से पहले काम-क्रोध से उत्पन्न वेगों को सहन करने की सामर्थ्य पैदा करलो। ऐसा ही पुरुष योगी कहलाता है-सच्चा सुख पाता है। क्रमशः योगेश्वर कृष्ण ध्यानयोग की, आत्मसंयम योग की पृष्ठभूमि बताते हैं। वे कहते हैं कि ध्यान वही कर पायेगा, जो इच्छा-भय से, राग-द्वेष से मुक्त हो परमात्मा की धारणा कर पायेगा। हम अपने चित्त की वृत्तियों को धारणा द्वारा घनीभूत कर अपने विचारों को चित्त में घोल लेते हैं। चित्त में विचारों का घुलना ही ध्यान है। फिर चित्त का रोम-रोम बोलने लगता है-अहं ब्रह्मास्मि। इस अनुभव की प्रगाढ़ता ही ध्यान है। धीरे-धीरे चित्तवृत्तियाँ शुद्ध होती हैं एवं ध्यान लगने लगता है। इसकी एक पूर्वक्रिया भगवान् २७-२८ श्लोक में समझाते हैं।

ज्ञानयोगी में चिन्तन की-विचारों की प्रगाढ़ता होती है, कर्मयोगी में भावों की प्रगाढ़ता होती है। कर्मयोगी इसीलिए श्रेष्ठ माना गया है।

भावना के बिना न अर्पण हो पाता है, न कर्म। इस भक्ति मिश्रित कर्म से ध्यानयोग की पृष्ठभूमि बन जाती है। समाधि का लाभ दोनों वर्गों को मिलता है, पर भगवान् के बड़े स्पष्ट विचार हैं कि योगी कौन है। युगगीता के इस तीसरे खण्ड में छठे अध्याय का प्रारंभिक भाग भी प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वे बताते हैं कि सच्चा योगी कौन है? संकल्पों को त्यागने वाला ही संन्यासी है, योगी है, ध्यानयोगी है, कर्मयोगी है। योगारूढ़ होने वाला जानता है कि मेरा आत्मा स्वयं में बड़ा बलिष्ठ है। वही मुझे प्रेरणा देगा, वही मेरा सच्चा मित्र है और इंद्रियों को जीतने में उसी की सच्ची प्रेरणा है। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त विकाररहित अंतकरण वाला ही धारणा स्थापित कर ध्यानयोग में प्रतिष्ठित हो सकेगा, ऐसा श्रीकृष्ण का मत है। युगगीता का यह तीसरा खण्ड वसंत पर्व २००८ (विक्रम संवत् २०६४) की पावन वेला में ऐसे योगेश्वर परम पूज्य गुरुदेव को समर्पित है, जिनने सारा जीवन श्रीकृष्ण की तरह ही जिया, लोकशिक्षण किया एवं विद्या विस्तार किया।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

विषय सूची

क्र०	विषय	पृष्ठ क्रमांक
०१-	कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग में कौन सा श्रेष्ठ है ? -----	१३
०२-	सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं -----	२४
०३-	कर्मयोग के अभ्यास बिना संन्यास सधेगा नहीं -----	३२
०४-	कर्त्ताभाव से मुक्त द्रष्टा स्तर का दिव्यकर्मी -----	४१
०५-	कर्मयोग की परमसिद्धि-अंतःशुद्धि -----	५०
०६-	न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते -----	५९
०७-	निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन -----	६७
०८-	आदर्शनिष्ठ महामानव कैसे बनें -----	७६
०९-	ब्रह्म में प्रतिष्ठित संवेदनशील दिव्यकर्मी -----	८४
१०-	ज्ञानीजन क्षणिक सुखों में रमण नहीं करते -----	९३
११-	योगेश्वर का प्रकाश-स्तंभ बनने हेतु भावभरा आमंत्रण ---	१०२
१२-	परम शांतिरूपी मुक्ति का एकमात्र मार्ग -----	१११
१३-	'महावाक्य' से समापन होता है, कर्म संन्यास योग की व्याख्या का -----	१२०
१४-	आइए ध्यान योग में प्रवेश करें -----	१२९
१५-	संकल्पो से मुक्ति मिले, तो योग सधे -----	१३०
१६-	योगारूढ़ होकर ही मन को शांत किया जा सकता है -----	१३९
१७-	उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् -----	१४८
१८-	जीता हुआ मन ही हमारा सच्चा मित्र -----	१५७
१९-	कैसे बनें पूरी तरह युक्तपुरुष -----	१६५

कर्मसंन्यास व कर्मयोग में कौन सा श्रेष्ठ है ?

यहाँ से कर्म संन्यास योग नाम से श्रीमद्भगवद्गीता का पाँचवाँ अध्याय आरंभ करते हैं। युगगीता का यह भाव प्रवाह द्वापर में कही गयी गीता एवं प्रज्ञावतार की सत्ता के लीला संदोह पर आधारित है। नवयुग आगमन की वेला में इस युगगीता की व्याख्या-विवेचना में वह सब कुछ है, जो आज एक साधक के रूप में हम सभी को अभीष्ट है, करने योग्य एक कर्तव्य है, युगधर्म है। श्री गीता जी के प्रथम छह अध्याय कर्मयोग प्रधान हैं। यों स्थान-स्थान पर इसमें भक्तियोग, ज्ञानयोग गुँथा पड़ा है। मोहग्रस्त किंतु जिज्ञासु शिष्यभाव में स्थित अर्जुन के प्रश्नोत्तरों के माध्यम से कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं, जो आज की युग परिवर्तन की संक्रमण वेला में सभी को प्रेरणा देते हैं। चौथा अध्याय ज्ञान-कर्म संन्यास योग पर था। प्रस्तुत अध्याय कर्म-संन्यास योग प्रकरण पर है। अर्जुन ने ज्ञान का महत्त्व जान लिया, किंतु अभी भी कर्मयोग के संबंध में उसके मन में कुछ संदेह है। वह बोलता तो प्रारंभ में ही है, पर श्रीकृष्ण मंद-मंद मुस्कान के साथ उसकी मानसिकता का अध्ययन कर रहे हैं एवं उसका प्रश्न समाप्त होते ही कर्मों से संन्यास व कर्मयोग तथा संन्यास योग अर्थात् सांख्ययोग की महत्ता समझाने लगते हैं। ज्ञान में कर्मों का संन्यास। (ज्ञान-कर्म संन्यास योग) चौथे अध्याय का प्रकरण था, जहाँ उठो भारत! अज्ञान से जन्मे संशयों से मुक्त होकर विवेक-ज्ञान को जीवन में उतारकर समत्व रूपी योग में स्थित हो जाओ, इस संदेश के साथ योगेश्वर सद्गुरु द्वारा समापन किया गया था।

लोकसेवियों की मार्गदर्शिका

अब एक प्रकार से पुनः उसी विषय को गहरी जाँच-पड़ताल के साथ पी.एच.डी. स्तर के गहन अध्ययन की तैयारी के साथ श्रीकृष्ण

प्रस्तुत करना चाह रहे हैं। यह विषय हर कार्यकर्ता के लिये, स्वयंसेवक के लिये, एक आदर्श राष्ट्रनिष्ठ लोकसेवी के लिये समझना बहुत जरूरी है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ज्ञान को सर्वोपरि मानकर उसी के आधार पर अपने व्यक्तिगत अहं की बलि दी जानी चाहिए। अहंकार का समर्पण हो एवं व्यक्ति निष्काम कर्म की ओर बढ़े, चाहे कितनी ही मुश्किलें क्यों न आएँ। अब इस “अहं” से मुक्ति कैसे पाई जाए? यह अहंकार है क्या? इस मद को पहचाना कैसे जाए? किसी तरह हम इसके स्वरूप को जान लें एवं शुद्ध “अहं” के गरिमामय रूप को जानकर उसमें प्रतिष्ठित होने की सोचें, तो कितना बड़ा परिवर्तन आ सकता है? यह सब कार्यकर्ताओं की आचार-संहिता का प्रकरण इस अध्याय में आया है, जो उसे साधना की धुरी पर जीवन कला को निखारने की बात भी समझाता है। संन्यास वेशधारी तो लाखों की संख्या में समाज में हैं, पर क्या वे अपना “अहं” छोड़ पाए हैं? वास्तविक संन्यास क्या होता है? व कर्मयोग व संन्यास का परस्पर समन्वय कैसे स्थापित किया जाए? इसकी विशिष्ट व्याख्या इस अध्याय में श्रीकृष्ण करते हैं। अहंकार के नाश की विधि इसमें वर्णित की गयी है, इसीलिये इस अध्याय का नाम “कर्म-संन्यास योग” है।

इस अध्याय के २९ श्लोकों में सारे कर्म सिद्धान्त को योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा बड़े सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में स्थान-स्थान पर कर्म-संन्यास की व्याख्या एवं कर्मयोग की महत्ता बताते हुए भगवान् कृष्ण अहंकार से रहित सिद्ध पुरुषों के लक्षण भी अर्जुन को बताते हैं। अहंकार रहित होना एक बड़ी सिद्धि है एवं इतना भर हो जाने पर मनुष्य किस तरह सामान्य से असामान्य हो जाता है, यह पढ़ने पर पाठक के मन में भी ललक पैदा होने लगती है। स्थान-स्थान पर आसक्ति को छोड़कर कर्म करने की महत्ता इस अध्याय में प्रतिपादित की गयी है, पर अर्जुन इतने मात्र से संभवतः

प्रभावित नहीं है। उसकी आशंकाएँ अभी भी यथावत् हैं; क्योंकि वह व्यावहारिकता के धरातल पर मार्गदर्शन चाहता है। विगत दो अध्यायों को चरम सोपान पर पहुँचा देता है—यह पाँचवाँ अध्याय जहाँ अंतिम श्लोकों में ध्यान की विधि भी योगेश्वर द्वारा बता दी जाती है। जीवन कैसे जिया जाए? कर्मों को दिव्य कैसे बनाया जाए? औरों से अधिक बेहतर जीवन किस तरह जिया जाए? विचारों व भावनाओं का सुव्यवस्थित विकास कैसे संभव हो? यह श्रीगीता जी के काव्य की विशेषता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि जीवन को एक खेल की तरह मानकर ठीक तरह जी लिया जाए, तो हमारा जीवन सुसंस्कृत एवं चरित्रनिष्ठा से भरा-पूरा होता चला जाता है। जीवन पूर्णतः रूपान्तरित होने लगता है। सदाचारमय जीवन जीते-जीते मनुष्य क्रमशः उन्नति की ओर बढ़ने लगता है—आध्यात्मिकता की ओर भी एवं भौतिकता की ओर भी। उसके अंदर का दानव मिटता चला जाता है एवं देवत्व जागने लगता है। छठे अध्याय में आत्मसंयम के योग को समझाने से पूर्व श्रीकृष्ण अर्जुन में जिज्ञासा जगाकर इस पाँचवें महत्वपूर्ण अध्याय में कर्मयोग की पराकाष्ठा तक उसे पहुँचा देते हैं। यही है—पाँचवें अध्याय में प्रवेश की भूमिका।

पाँचवाँ अध्याय अर्जुन की एक जिज्ञासा से आरंभ होता है। वह अभी सुन चुका है—“योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत”—हे भारत! उठो एवं योग का आश्रय लो। अपनी अहं केन्द्रित कामनाओं को त्यागो। वस्तुतः यही सच्चे अर्थों में संन्यास है।

तत्काल ही वह अपनी जिज्ञासा श्रीकृष्ण के सम्मुख रख देता है—
अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् (५/१)

अर्जुन ने कहा-“हे कृष्ण! आप कर्मों का त्याग करने (कर्मणां संन्यासं) और फिर उन्हें करते रहने (कर्मयोग) पर जोर देते हैं, इनकी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों मार्गों में से कौन-सा एक मेरे लिए भलीभाँति निश्चित, कल्याणकारक व श्रेष्ठ है, यह आप मुझे बताइये।”

यहाँ अर्जुन पूर्णतः भ्रमित है। उसे दोनों मार्ग परस्पर विरोधी दिखाई दे रहे हैं। पहले मार्ग के अनुसार, तो यह स्पष्ट होता है कि तमाम कर्मों का त्याग कर दिया जाना चाहिए (संन्यास) और दूसरा मार्ग हमें सामाजिक और व्यक्तिगत रूप से जीवन में रुचि लेने-कर्मयोग में निरत होने की बात कहता है। अर्जुन की बुद्धि में यहाँ वह गंभीर भाव नहीं आ पा रहा है, जो दोनों मार्गों की तत्त्व से उसे जानकारी करा सके।

भगवान् श्री जो यहाँ कहना चाह रहे हैं, उसके अनुसार कर्मों में अहंकार का त्याग ही कर्मणां संन्यासः है-कर्मों का त्याग है तथा कर्मफल उपभोग के प्रति हमारी चाह के त्याग को कर्मयोग कहा गया है। कितना बारीकी से रखा गया दर्शन है, पर वह समझ में तब ही आ सकता है, जब हम उसका मर्म समझ सकें। जैसे ही वह समझ में आ जाता है हम समष्टि में संव्यास उस परमात्मसत्ता को भी जान लेते हैं। बाधक मात्र अहंकार है- उसके उद्देग हैं। कर्ता का भाव व भोक्ता का भाव यदि निकल जाए, तो हम अपने दिव्य स्वरूप को जान सकते हैं-मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीने की स्थिति में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। फिर हम उन ग्रन्थियों में उलझने से बच जाते हैं, जो हमें देवत्व के राजमार्ग से हटाकर इन्द्रिय तुष्टि की ओर- अहं की पूर्ति की ओर-स्वार्थ पूर्ति की ओर ले जाती है।

कर्ता-भाव का त्याग ही कर्म-संन्यास

उत्तर जो मिलने जा रहा है, उसकी भूमिका समझ लें, तो हमें अर्जुन का प्रश्न अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। कर्ता भाव के त्याग

की विधि कर्मों का संन्यास है और भोक्ताभाव से ऊपर उठने की विधि कर्मयोग है। अहंकार का त्याग करके लोकसेवा में लगना “संन्यास” है एवं कर्मफल की लालसा पर नियंत्रण रख लोकसेवा में लगाना “कर्मयोग” है। शास्त्रों में वर्णित इन दो शब्दों को समझ लेने के बाद इस अध्याय का एवं कर्मयोग का मर्म समझ में आ जाता है। पाण्डुपुत्र अर्जुन चाहता है कि उसके गुरु श्रीकृष्ण उसका एक ही निश्चित मार्ग—पूर्ण संन्यास अथवा पूर्ण कर्मयोग (संन्यास एवं योग) के विषय में मार्गदर्शन करें।

गलती उसकी भी नहीं है। अर्जुन ने पहले ज्ञानयोग की महिमा सुनी कि ज्ञान से अधिक पवित्र धरती पर कुछ भी नहीं व उसे इसके लिये श्रद्धावान बनना होगा—फिर चौथे अध्याय में उसने सुना कि कर्मयोगी बनना चाहिए—दिव्यकर्मों होना चाहिए। अर्जुन किसी बीच के मार्ग, किसी शार्टकट की, बायपास मार्ग की तलाश में है। युद्ध में लगने का उसका मन नहीं है—कर्मयोगी वह अभी बनना नहीं चाहता; क्योंकि उससे बार-बार युद्ध करने की बात कही जा रही है। हाँ, यदि किसी तरह संन्यास मिल जाए तो जान बच सकती है। संन्यास ले लेंगे, तो कर्म से बच जायेंगे। संन्यास, ऐसे पावन आश्रम परम्परा की दुर्गति अनादि काल से होती चली आयी है। संन्यास अर्थात् कर्मों से पलायन। भगवान् उसे दुविधा से निकालते हैं एवं उससे कहते हैं—

श्री भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ५/२ ॥

अर्थात् “श्री भगवान् बोले—कर्मसंन्यास (कर्मों का त्याग) और कर्मयोग (कर्मों का सम्पादन) दोनों ही हमें मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किन्तु इन दोनों में से कर्मों के त्याग की अपेक्षा कर्मयोग—साधना में सुगम होने से अधिक श्रेष्ठ है।”

दोनों ही परम कल्याणकारी हैं—दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है; परंतु इनमें से भी कर्मयोग जिसमें कर्मों का संपादन करते-करते सफलता की ओर बढ़ा जाता है, सर्वाधिक श्रेष्ठ है—यह श्री भगवान् का स्पष्ट मत है। यह एक प्रारम्भिक साधक के लिये—युद्धभूमि में खड़े योद्धा के लिये—मोहग्रस्त अर्जुन के लिये दिया जा रहा मार्गदर्शन है। एक स्पष्ट घोषणा आचार्य के द्वारा की जाती है कि कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मों का सम्पादन करते हुए जीना ही सर्वश्रेष्ठ है (तयो अस्तु कर्म संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते)। बिना रजोगुण पार किये जो सतोगुण सीधे पाना चाहता हो, उसे यह जान लेना चाहिए कि राजमार्ग मात्र एक ही है। हर कोई तमोगुणी की (मोह और-अहंता की) स्थिति में पलायनवादी बनकर हिमालय जाने की बात कहता है; क्योंकि वह मार्ग सीधा-सच्चा दिखाई देता है, पर यह तो छलावा है। ऐसे व्यक्ति वापस तमस की ओर लौटते हैं एवं यदि जीवन में सच्चा मार्गदर्शन नहीं मिला, तो जन्म-जन्मान्तरों तक भटकते रहते हैं।

भगवान् एक ही बात कहते हैं—“तुम्हारे लिये कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। यही युगधर्म है और इसी में तुम्हें ही नहीं, किसी भी काल के मानव को सर्वप्रथम अपने आपको नियोजित करना चाहिए।” यह पूरा अध्याय युगधर्म की ही बात कहता है एवं हमें बताता है कि हमारे कर्मों को किस दिशा में नियोजित किया जाना चाहिए। आज के युग में चारों ओर आपाधापी मची हुई है; मनुष्य दूषित हो रहा है, उसके कर्म दूषित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे युगधर्म की अपेक्षा है, जो हमें बता सके कि हमारे कर्म पथ प्रदर्शन के योग्य बन सकते हैं—हम औरों को अपने कर्मों से शिक्षण दे सकते हैं। आज की परिस्थिति में गेरुए कपड़े पहनकर वैराग्य का जीवन जीना संभव नहीं है। कभी संन्यास धर्म प्रतिष्ठित रहा होगा, पर आज तो युगधर्म का परिपालन करने वाले वानप्रस्थ-परिव्राजक वर्ग के कर्मयोगियों की सर्वाधिक आवश्यकता है।

युगधर्म को समझें

युगधर्म की व्याख्या परम पूज्य गुरुदेव के एक लेख के माध्यम से समझाना चाहेंगे। यह लेख “अखण्ड ज्योति” पत्रिका अप्रैल १९८३ के लिये लिखा गया था—शीर्षक था—“जाग्रतात्माएँ युगधर्म का निर्वाह करें” (पृष्ठ-५१)। पूज्यवर लिखते हैं—“आपत्तिकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिये समर्थ भावनाशीलों को आगे आना पड़ता है। अग्रिकाण्ड, भूकम्प, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष जैसे संकट आ खड़े होने पर उदारचेता अपने कामधंधे में हर्ज करके भी दौड़ते और संतुष्ट जनसमुदाय की सहायता करने में कुछ उठा नहीं रखते। स्थानीय चिकित्सकों की जिम्मेदारी और भी अधिक है। इस अवसर पर उनकी योग्यता विशेष रूप से आवश्यक होती है। यदि वे मरहम पट्टी-करने के लिए आने से इंकार या आनाकानी करें, तो यह तत्काल के संकट से परे रहना अन्ततः हानिकारक ही सिद्ध होगा। इस निष्ठरता के लिये उन्हें आत्मप्रताड़ना और लोकभर्त्सना दोनों ही सहनी पड़ेंगी।”

युगधर्म की अति महत्त्वपूर्ण व्याख्या करने के बाद इसी के आगे पूज्यवर लिखते हैं—“प्रज्ञा परिजनों की स्थिति सुयोग्य चिकित्सकों जैसी है और समय की विपन्नता भयानक दुर्घटना जैसी। इन दिनों आस्था संकट के सर्वनाशी घटाटोप पूरी प्रौढ़ता पर हैं। साधन संपन्न परिस्थितियों में भी मनुष्य को दिन-दिन अधिकाधिक कष्टदायक स्थितियों में फँसना पड़ रहा है। आज की परिस्थितियों को यदि कोई पर्दा उघाड़ कर देखे, तो प्रतीत होगा कि दृश्यमान चमक-दमक के पीछे कितनी अधिक पीड़ा, खीज, निराशा संव्याप्त है। व्यक्ति की तरह ही समाज की चूलें भी चरमरा रही हैं। लोग ऐसे माहौल में जी रहे हैं, जिसमें आतंक, अनाचार और प्रपंच-पाखण्ड के अतिरिक्त और कुछ बच ही नहीं रहा। कहना न होगा कि समय को जिस स्तर की उद्धार क्षमता चाहिए, उसकी उपयुक्त मात्रा प्रज्ञा परिजनों के अतिरिक्त कदापि कहीं अन्यत्र दिखाई पड़े।”

कर्मयोगी बनें, युगधर्म निबाहें

यह पूरा निबन्ध पढ़ने योग्य है; पर इसका जो अंश यहाँ उद्धृत है- वह हम सबके लिए है, हर देवमानव के लिये है, जिसके भी मन में समाज के प्रति थोड़ी भी पीड़ा है- उसके लिये है। यह लेख १९८३ में लिखा गया था; पर आज बीस वर्ष बाद भी यह उतना ही सामयिक है। जो भी कुछ विवरण ऊपर दिया गया है- वह आज के समाज की जन्मकुण्डली है- पूरा वास्तविक लेखा-जोखा है। ऐसे में हमसे एक सुयोग्य चिकित्सक की भूमिका निभाने को कहा जा रहा है। हम अर्थात् “अखण्ड ज्योति” के पाठक, संवेदना की धुरी से मिशन के उद्देश्यों से जुड़े परिजन, लोकसेवी, कर्मयोग में निरत हर कोई सामान्य जन। परम पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि हमें कर्म-संन्यास व कर्मयोग दोनों में से चुनना पड़े, तो युगधर्म की दृष्टि से चिकित्सक वाला-लोकशिक्षक वाला कर्मयोग का मार्ग चुनना चाहिए। कभी-कभी संन्यासी बनने की हूक मन में उठती है, लगता है कि संन्यास ले लिया होता, तो ज्यादा श्रेष्ठ कहलाते। आनंद का जीवन होता। आज जो संन्यासी समुदाय है, उसकी तरह भोग का जीवन जीते। सन् १९८०-८१ की बात है। परम पूज्य गुरुदेव के आदेश से हमें एक आश्रम में जाने का मौका मिला, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम की मशीन लेकर। एक आश्रम में एक स्वामी जी को हार्ट अटैक हुआ था। जिस कक्ष में से होकर हम गुजरे-वहाँ कई संन्यासी भोजन कर रहे थे। अत्यधिक गरिष्ठ-मेवा प्रधान भोजन। आज की दृष्टि से हाई कोलेस्ट्रॉल फूड। अंदर ई.सी.जी. लिया। तुरंत तात्कालिक उपचार किया- दिल का दौरा पड़ा था। रक्त की चर्बी की दृष्टि से चेक अप कराने हेतु सैम्पल भेजा। उसी कक्ष से लौटना हुआ। लगा यदि सभी स्वामी जी, जो बड़े-बड़े

मठों में रहते हैं, यह भोजन करते होंगे, तो उन्हें हार्ट अटैक नहीं होगा, तो क्या होगा ? यहाँ हम यह नहीं कह रहे कि सारे संन्यासी ऐसे होते हैं, पर आज जो स्थिति हो गयी है, संन्यास आश्रम की-धर्म की जो दुर्गति हो गयी है, उसमें कर्मयोग से परे हटकर पलायनवादी बनकर जीने वाले अधिक हैं एवं इनकी संख्या प्रति कुम्भ में बढ़ती चली जाती है। बाहर तो भगवा है, किन्तु अन्तरंग में क्या है, यह किसी को दिखाई नहीं देता। नंगे पाँव चलते हैं-कुछ तप-तितिक्षा के व्रत साध लिये हैं-मौन रहते हैं, पर जीवन वैसा का वैसा ही है; क्योंकि तमस् से ऊपर नहीं उठ पाए। यदि अंदर-बाहर दोनों ओर *कर्मणां न्यासं-कर्मसंन्यास* सही अर्थों में स्थापित हो जाए, तो वह स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द की तरह, आद्य शंकराचार्य की तरह लाखों के दिशादर्शक बन सकते हैं।

युगधर्म की बात से उपर्युक्त प्रसंग उभरे। युग धर्म का परिपालन ही कर्मयोग को जीवन में उतारना है। पीले कपड़े, जो त्याग-तप-बलिदान, उल्लास का प्रतीक है, पहने गायत्री परिवार के कार्यकर्ता स्थान-स्थान पर सात आंदोलनों (साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलम्बन, पर्यावरण, नारी जागरण, व्यसन-कुरीति उन्मूलन) में निरत दिखाई देते हैं। गुरुवर चाहते तो वे भी सभी को गेरुए कपड़े पहना देते, पर उनसे कहा-“आपको हम पीले कपड़े पहना रहे हैं। आपको लोग गाली देंगे, अपमानित करेंगे; क्योंकि धर्मतंत्र बुरी तरह पददलित हुआ है-अवमानित हुआ है। आपको जीवन विद्या की पुनःस्थापना करनी है, इसलिये आपको पीले कपड़े पहनाए हैं; ताकि आप धर्मतंत्र को पुनर्जीवित कर सकें। कर्मयोगी बनकर अर्जुन की तरह हम भी मोह, अहं के भवबंधन पार कर सकते हैं।



सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं

स्व-स्व चरित्रं शिक्षेरन्

दूसरे श्लोक का सार यह है कि कर्मयोग एवं कर्मसंन्यास, यद्यपि ये दोनों ही मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं एवं दोनों ही श्रेष्ठ हैं, फिर भी इन दोनों में कर्मों का संपादन (कर्मयोग) अधिक महत्त्व वाला, व्यावहारिक एवं हम सबके लिए करने योग्य है। जब भी संन्यास की बात की जाती है, तो 'कर्मभाव' से अर्थात् हमारे भीतर जड़ जमाकर बैठे अहंभाव के त्याग की अपेक्षा हमसे की जाती है। व्यावहारिक धरातल पर शिक्षण दे रहे योगेश्वर श्रीकृष्ण एक सामान्य आदमी के लिए भी एवं विशिष्टता की पराकाष्ठा पर चलने वालों के लिए भी यही सूत्र देते हैं कि कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मों का संपादन श्रेष्ठ है "तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।" हम ऐसे दिव्यकर्मों बनें कि हमारे कर्म ही औरों के लिए शिक्षण बन सकें। स्वामी तुरीयानंदजी (रामकृष्ण मिशन) कहा करते थे, "लिव एन एक्जेम्पलरी लाइफ" अपना जीवन उदाहरण की तरह जियो। अपने कर्मों से, आचरण से औरों को शिक्षण दे सको, जो कि हमारी संस्कृति का आदि सत्य है, स्व-स्व चरित्रं शिक्षेरन् (स्व-स्व आचरेण शिक्षेरन्) पृथिव्यां सर्वमानवाः" कुछ ऐसी बात इस श्लोक से हमें ज्ञात होती है। जो भगवान् को पसंद हो, वही हमें भी पसंद होना चाहिए। यदि भगवान् कर्मयोगी बनाना चाहते हैं मानव मात्र को, तो वही हम सबकी नियति होनी चाहिए। आज का कर्मयोग-युगधर्म है—मानव मात्र में छाए आस्थासंकट का निवारण, इसके लिए छाई दुर्गति को मिटाने के लिए एक विराट् स्तर पर ज्ञानयज्ञ-विद्याविस्तार। हर व्यक्ति का चिंतन,

सोचने का तरीका सही हो, अहर्निश यही हमारा पुरुषार्थ चले, चिंतन चले एवं कर्म भी उसी दिशा में नियोजित हों। युगधर्म की बात आती है, तो यहाँ गोरखनाथ जी का एक दृष्टांत उद्धृत करने का मन करता है।

समूह मन का जागरण

गुरु गोरखनाथ का जब उदय हुआ, तो उनका नाम था अघोरवज्र। अघोर से गोरखनाथ पैदा हुए एवं चूँकि वे वज्रयानी संप्रदाय के थे, वे अघोरवज्र भी कहलाते थे। उनके एक साथी थे फेरुकवज्र। मुहम्मद गौरी की सेना ने आक्रमण किया एवं वह उत्तर से दक्षिण तक सब कुछ तहस-नहस करती हुई, देवालियों को तोड़ती हुई सोमनाथ व उड़ीसा के कोणार्क मंदिर तक पहुँच गई। आक्रमण इस स्तर पर प्रचंड था एवं हिंदू कट्टरपंथियों द्वारा पिछड़े वर्ग की उपेक्षा इतनी अधिक थी कि उसके विधर्मीकरण आंदोलन में कई व्यक्ति धर्म बदलकर मुस्लिम बनते चले गए। इसमें एक काला पहाड़ की कहानी सभी जानते हैं, जो कि घृणा से जन्मा था एवं जिसने हजारों हिंदुओं को मुस्लिम बनाकर बर्बरता से मारा। उस समय जब योग और तंत्र की शक्ति में महारत रखने वाले ढेरों वज्रयानी गोरक्षनाथ, फेरुकवज्र मौजूद थे, ये घटनाएँ घटीं। तत्कालीन राजा तंत्र के टोटकों से प्रभावित हो यही समझ बैठे थे कि यही लोग मोरचा ले लेंगे, हमें लड़ने की जरूरत भी नहीं होगी। सेनाओं की छुट्टी कर दी गई थी। यही मान लिया गया कि तांत्रिकों के, योगियों के बल पर ही यवन-शक-हूणों से जूझ लिया जाएगा। जब गजनवी आकर रौंद कर चला गया, तो गोरखनाथ ने अपने से आयु व अनुभव में बड़े फेरुकवज्र से पूछा, “आपका तप कहाँ चला गया? ज्ञान का क्या हुआ? क्यों नहीं जूझ पाए आप?” तब फेरुकवज्र बोले, “योग और तंत्र की अपनी सीमा है।” ऐसे विपत्ति के समय में आवश्यकता आत्मबल सम्पन्न व्यक्तियों की, विजय की कामना रखने वालों की एवं कर्मयोगियों की होती है। गजनी के सैनिकों में गजब का आत्म-विश्वास था, विजय की कामना थी। जब कर्मयोगी जिजीविषा सम्पन्न व्यक्ति

एक साथ होते हैं, तो समूह मन का निर्माण करते हैं। इस समूह मन के सामने तंत्र और योग एक तरफ रखा रह गया और उनकी दुर्दांत इच्छाशक्ति काम करती चली गई। “आगे जब भी जमाना बदलेगा, तो वह समूह मन के जागरण से ही बदलेगा।”

कर्मयोग ही आज का युगधर्म

समूह मन का जागरण ही है, आज का युगधर्म। परमपूज्य गुरुदेव ने इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य का न केवल नारा दिया, उसके लिए सुनियोजित कार्यक्रम भी दिया तथा सभी गायत्री परिजनों को कर्मयोगी भी बना दिया। कहा—परमार्थ में ही सच्चा स्वार्थ है। इस समय का युगधर्म विचारक्रांति, समाज-सेवा है। इसके साथ-साथ उनने सामूहिक साधना द्वारा समूह मन के जागरण की प्रक्रिया को जीवन-भर गति दी। उनने कहा कि जो इसमें जुटेगा, वह भारत को महानायक होते देखेगा। गोरखनाथ से भी फेरुकवज्र ने यह बात इसी तरह कही, “भारतवर्ष का उद्धार तंत्र साधना या संन्यास से नहीं, गुफा में बैठकर नहीं, समवेत मनो की शक्ति के जागरण से ही हो पाएगा, ऐसा समय निश्चित ही आएगा।” तत्पश्चात् गोरक्षनाथ ने नाथ योगियों की एक सेना खड़ी की एवं उन्हें एक विशिष्ट कार्य सौंपा। जहाँ भी यवनों का आक्रमण होने की संभावना रहती थी, वहाँ यह सेना पहले से ही पहुँच जाती थी एवं बाकायदा मोर्चा लेती थी। वे जाकर सभी को एकत्र करते एवं बताते थे कि युगधर्म क्या है? इस समय तलवार हाथ में लेकर लड़ना एवं विधर्मियों को मार गिराना ही युगधर्म है। अमृताशन की परंपरा को भी गोरक्षनाथ ने ही सबसे पहले आरंभ किया था। कहा था कि यही इस जमाने का आहार है। इसी को खाकर, योग साधकर, संयमी जीवन अपनाकर सभी को सैनिक बनना चाहिए। परमपूज्य गुरुदेव ने भी अमृताशन (खिचड़ी) को युग सैनिकों के लिए एकमात्र आहार बताया। भगवान् भी यहाँ गीता के दूसरे श्लोक में यही कह रहे

हैं कि संन्यास लेकर वैराग्य की स्थिति (जो कि अर्जुन के मन में आ रहा है) की तुलना में कर्मयोग ही सर्वश्रेष्ठ है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण क्यों कहते हैं कि हमें कर्मयोगी ही होना चाहिए? वे हमें तीसरे श्लोक में संन्यासी की विशिष्टताओं एवं अहं के मिट जाने वाली प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्व्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५/३

“हे अर्जुन! उसी कर्मयोगी को संन्यासी जानो, जो किसी से न द्वेष करता है और न राग ही रखता है, क्योंकि ऐसा राग-दोषों के द्वंद्वों से रहित व्यक्ति, तो सहज रूप में ही संसार बंधनों से मुक्त हो जाता है।”

यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति

संन्यासी राग-द्वेष से परे होता है। उसका अपना प्रिय कोई भी नहीं होता है, फिर भी सभी उसी के अपने आत्मीय होते हैं। वह व्यक्ति विशेष से जाति-धर्म संबंध (रिश्तेदारी), लिंग आदि के आधार पर न प्रीति रखता है, न उनसे घृणा करता है। घोषणा करने की जरूरत नहीं है कि अब हमने गेरिक वस्त्र पहन लिए हैं, हमने संन्यास ले लिया है; संन्यास आचरण में दिखाई देना चाहिए। संन्यासी अपने कुल-नाम-वंश को भूलकर गुरु की परंपरा से जुड़ जाता है और सारा समाज उसका कार्यक्षेत्र हो जाता है। जिसके हृदय से अहंभाव पूरी तरह दूर हो गया हो, उसे ही संन्यासी मानना चाहिए। (**ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी**), जिसे न राग है किसी से, न द्वेष ही (**यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति**)। यदि किसी प्रकार की वासना होगी ही नहीं, तो राग-द्वेष क्यों पनपेंगे? आगे भगवान् कहते हैं कि जिसने द्वंद्वों से पीछा छुड़ा लिया, वह सहज भाव से ही बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। (**निर्व्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**)। द्वंद्व ही तो हैं, जो हमें बंधनों में फँसाते रहते हैं, यह मेरा है, यह मेरा पद, मेरी उपलब्धि मेरे स्वयं के ही कारण है, यह

घृणित है, मेरे कथनानुसार नहीं चलता, मेरे मार्ग में बाधक है, इस प्रकार का चिंतन व्यक्ति को द्वंद्वों में उलझाकर बंधनों में जकड़ लेता है। इन द्वंद्वों से मनोविकार एवं फिर प्रज्ञापराध पनपता है। व्यक्ति बाहर से स्वस्थ, किंतु वस्तुतः रोगी बन जाता है। परमपूज्य गुरुदेव ने उसे वास्तविक रोगी एवं आस्था-संकट से ग्रस्त बताया है। यह भी उन्होंने कहा कि आज बहुसंख्य व्यक्ति इसी विडंबना में उलझे हैं, अधिक पाने की आकांक्षा, राग की अधिकता, कामनाओं का महत्वाकांक्षाओं में बदलना एवं बाधक तत्त्वों को हटाने के लिए द्वेष का जन्म लेना, फिर इन द्वंद्वों में उलझकर एक मायावी मृगतृष्णा में फँसकर जीवन गँवाते चलना यह नरसमुदाय की एक नियति-सी बन गई है। समाधान वे भी एक ही बताते हैं, विचारों में परिवर्तन, राग-द्वेष से मुक्ति, द्वंद्वों से परे चलकर जीवनमुक्ति-बंधनमुक्ति। वासना, तृष्णा, अहंता के त्रिविध विकारों से छुटकारा संन्यासी की वास्तविक मनःस्थिति में जाए बिना होगा नहीं। इसके लिए संन्यासी वेश की नहीं, संन्यास की मनःस्थिति की जरूरत है।

श्रीअरविंद 'गीताप्रबंध' में कहते हैं, “अहंकारी समझता है कि मैं ही वास्तविक आत्मा हूँ और इस तरह कर्म करता है मानो कर्म का वास्तविक केन्द्र वही है और सब कुछ मानो उसी के लिए है और यहीं वह दृष्टिकोण और नियोजन की भूल करता है। यह सोचना गलत नहीं है कि हमारे अंदर, हमारी प्रकृति के इस कर्म में कोई चीज या पुरुष ऐसा है, जो हमारी प्रकृति के कर्म का वास्तविक केंद्र है और सब कुछ उसी के लिए है; परंतु वह केंद्र, अहंकार नहीं, बल्कि हृदिदेश स्थित निगूढ़ ईश्वर (हृदेदेशे अर्जुन तिष्ठति १८/६१ गीता) परमपिता परमात्मा है और वही वह दिव्य पुरुष है, जो अहंकार से पृथक् सत्ता का एक अंश है।”

हम सबके भीतर वासनाओं द्वारा नियंत्रित, उसी के द्वारा निर्देशित ताल पर नृत्य करती हुई बुद्धि हमारे राग-द्वेष का भरण-पोषण करती

है और फिर यही क्रिया रूप को भी जन्म देती है, किंतु जिसने बुद्धि को द्वंद्वों से मुक्त कर लिया, वह जीवन के बंधनों से मुक्त हो जाता है। फिर वह ऐषणाओं, उद्वेगों, कामुकता के ज्वरों से मुक्त हो जाता है। यह स्थिति अचानक नहीं आती। न ही प्रत्येक संन्यासी को सहज ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिए श्रीकृष्ण का आग्रह है कि कर्म-संन्यास की तुलना में कर्मयोग करते-करते इसे प्राप्त करना और अधिक व्यावहारिक एवं सरल है। निष्ठा के साथ यज्ञीय भाव से कर्म करते रहने वाले दिव्यकर्मी (जैसा कि चौथे अध्याय में विस्तार से बताया गया) अपने जीवन की दैनंदिन वासनाओं का क्षय और अहंता पर विजय का महती कार्य संपन्न कर लेते हैं। अब कर्म-संन्यास और कर्मयोग को कोई पृथक् मानने की भूल न कर बैठे, इसके लिए भगवान चौथे श्लोक में एक सूत्र देते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ५/४

“बालक की तरह आचरण करने वाले मूर्ख जन सांख्ययोग (ज्ञान द्वारा कर्म-संन्यास) और कर्मों के संपादन (कर्मयोग) को पृथक्-पृथक् फल देने वाला मानते हैं, किंतु पंडितजन (बुद्धिमान-समझदार) जानते हैं कि दोनों में से एक का भी पूरी तरह अनुसरण करने वाला दोनों के फल को प्राप्त कर परमात्मा से साक्षात्कार करने की स्थिति में आ जाता है।”

बालबुद्धि बनाम पंडित-बुद्धि—भगवान् का मत है कि जो सांख्ययोग और कर्मयोग को अलग-अलग समझता है, वह बालक है। बालक के समान मूर्खतापूर्ण आचरण करने वाला है। पंडित अर्थात् विद्वत्जन जो समझदार हैं, जिन्होंने ज्ञान को भलीभाँति आत्मसात कर लिया है, वे जानते हैं कि दोनों एक समान ही फल देने वाले हैं। इसलिए किसी एक को भलीभाँति जीवन में उतारकर आगे बढ़ते रहने में ही समझदारी है। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में तीखा व्यंग्य भी है एवं

थोड़ा-सा रोष भी। श्रीकृष्ण दोनों योगों में विवाद पैदा करने वालों की हँसी उड़ाते हैं व यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान द्वारा कर्म संन्यास एवं कर्मों के संपादन दोनों में कोई अंतर नहीं है। ये अविभाज्य हैं, परस्पर विरोधी नहीं हैं। जैसे विज्ञान और अध्यात्म एक-दूसरे के पूरक हैं, ऐसे ही ये दोनों ही सिद्धांत साथ चलने वाले हैं, अलग-अलग नहीं हैं।

‘पंडित’ शब्द का यहाँ गीताकार ने प्रयोग किया है, तो इन अर्थों में कि उसने न केवल शास्त्रों का गहन अध्ययन-मनन किया है, वह अहं के परित्याग (संन्यास) और कामनाओं के त्याग (सच्चा कर्मयोगी) में कोई भेद नहीं करता। पढ़ा-लिखा होते हुए भी, बाहर से पंडित समान वेश धारण किए, ढेरों डिग्री लिए व्यक्ति यदि दोनों योगों को अलग-अलग बताता है, तो फिर उसे ज्ञानी नहीं, बालक ही मानना चाहिए; बुद्धिमान नहीं, मूर्ख ही जानना चाहिए। ऐसी अपरिपक्व बुद्धि वाली जनता हम से अनजान नहीं है। हमारे चारों ओर ही ऐसे ढेरों व्यक्ति हमें मिल जाएँगे, जो संन्यास का न कोई मर्म जानते हैं, न निजी जीवन में उसे उतारते हैं; हाँ बाहर से मंडलेश्वर, महामंडलेश्वर, संन्यासी का चोला अवश्य पहने हुए हैं। स्वयं छलावे में जी रहे हैं, औरों को भी इसी मृगतृष्णा में उलझाने की कोशिश कर रहे हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा है—**साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।** बालाः अर्थात् बालबुद्धि वाले पंडित अर्थात् विद्वान-ज्ञानी ‘एनलाइटण्ड मैन’।

कर्त्ताभाव-भोक्ताभाव

इसी बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि कर्त्ता के भाव का त्याग सांख्य मार्ग है एवं भोक्ता के भाव का त्याग कर्मयोग का मार्ग है। जो किसी एक को भी पूरी तरह जीवन में उतार लेता है, वह इन दोनों का ही फल प्राप्त कर लेता है, (**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोः विन्दते फलम्**), यह कहकर श्रीकृष्ण अर्जुन को पूरी तरह से मौन कर देते हैं, जो अभी भी द्वंद्व की स्थिति से गुजर रहा है। उनका स्पष्ट मत है कि

भोक्ताभाव का त्याग योगी को, साधना पथ के पथिक को लौकिक जीवन की वासनाओं का क्षय करने में मदद करता है। जैसे-जैसे वासनाएँ मिटती चली जाती हैं, मन शांत होता चला जाता है। मन की शांति किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जरूरी है। ऐसी मनःस्थिति में स्थित व्यक्ति अपने ध्यान द्वारा चैतन्य की आत्मानुभूति कर लेता है। जब अपने आप ही कर्त्ताभाव मिट जाता है, तो संन्यास की स्थिति में जाकर मनुष्य परम आनंद को प्राप्त होता है।

कहाँ है वह आनंद? जो कर्त्ताभाव व भोक्ताभाव का त्याग करने वाले एक संन्यासी में होना चाहिए, कहीं दिखाई पड़ता है? परम पूज्य गुरुदेव इसी विडंबना पर अक्सर चर्चा करते हुए कहते थे कि धर्म के नाम पर पलायनवाद को जन्म देने वाले राष्ट्र के साठ लाख बाबाजी यदि कर्मयोगी बने होते, तो राष्ट्र का उद्धार हो गया होता। धर्मतंत्र राजतंत्र पर निर्भर नहीं होता, उसका दिशादर्शक होता है। यदि एक-एक बाबाजी आठ-आठ व्यक्तियों को साक्षर व संस्कारवान बना देते तो स्वतंत्रता के बाद इन पचपन वर्षों में देश कहाँ-का-कहाँ पहुँच गया होता। इसीलिए परमपूज्य गुरुदेव ने नवसंन्यास, इस युग का आपाद् धर्म परिव्रज्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया एवं परिपक्व, पर उत्तरदायित्वों से मुक्त वानप्रस्थियों से यह आवश्यकता पूरी करने को कहा। हम यह नहीं कहते कि १०० प्रतिशत संन्यासी ऐसे हैं। कुछ प्रतिशत तो वास्तव में प्राणवान-प्रज्ञावान-कर्मयोगी हैं, पर शेष मठाधीश बने भोग कर रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है।



कर्मयोग के अभ्यास बिना संन्यास सधेगा नहीं

योग साधन है, सांख्य लक्ष्य

श्री भगवान् इस तथ्य को स्थापित करने जा रहे हैं कि योग साधन है एवं सांख्य (संन्यास की मनःस्थिति) हम सबके लिए लक्ष्य है। भोक्ताभाव को हम त्यागें एवं कर्त्ताभाव में प्रवेश करें। भोक्ताभाव को त्यागने के लिए राग-द्वेष से मुक्त हों, मन को तनावरहित बनाएँ, ग्रंथिमुक्त बनाएँ। आसक्ति त्यागें व जिनको हम अपने कर्मों को संपादित करने में बाधक मानते हैं, उन सभी गतिविधियों से बचें। अहं का त्याग होते ही हमें अंदर विद्यमान ज्योतिर्मान आत्मा की अनुभूति होने लगती है, जो हमें चिरस्थायी शांति प्रदान करती है। इस प्रकार क्रम हुआ—कर्मयोग, कर्मों में शुचिता, दत्तचित्त होकर निरासक्त भाव से कर्म करना और फिर अपने इस योग की अंतिम परिणति सांख्य में, कर्म-संन्यास में करके स्वयं को संन्यासी की मनःस्थिति में ले जाकर परम शांति-उल्लास व ईश्वरानुभूति की पराकाष्ठा पर ले जाना। कितना सुंदर आध्यात्मिक प्रगति का राजमार्ग योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं। जीवन जीने की शैली का ज्ञान करा रहे हैं एवं उसे मुक्ति के पथ की ओर प्रशस्त कर रहे हैं। अपनी इस बात को, कि किसी भी एक मार्ग का अनुसरण करने से साधक को इष्ट की सिद्धि हो जाएगी, अहंभाव से मुक्ति मिल जाएगी, वे अगले पाँचवें श्लोक में और भी अच्छी तरह स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५/५

ज्ञानयोगी जिस परम पद को प्राप्त करते हैं, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग (सांख्य) और कर्मयोग के संपादन को एक ही देखता है, उनका फल एक ही मानता है, वही यथार्थ देखता है।

यः पश्यति स पश्यति

चौथे श्लोक की पुष्टि बड़े सुंदर ढंग से यहाँ की गई है। ज्ञान व कर्म एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखे जाने चाहिए, यह भगवान् का मत है। दोनों का ही समापन अहंभाव के विसर्जन में होता है। अहंभाव जाते ही भोक्ताभाव समाप्त हो जाता है और इसी के साथ कर्ता का भाव भी तिरोहित हो जाता है। इसी के तुरंत बाद साधक को अपने भीतरी आनंद में अभिवृद्धि की अनुभूति होने लगती है और उसे इन दोनों कथनों का महत्त्व स्वतः ही दिखाई देने लगता है, 'यः पश्यति स पश्यति।' जो यह जानता है कि जो पद सांख्य योगी को प्राप्त होता है (यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं), कर्मयोगी भी वहाँ अपने कर्म का संपादन करते-करते यथा समय पहुँच जाते हैं (तद्योगैरपि गम्यते) वही वास्तव में द्रष्टा हैं, मनीषी हैं, ज्ञानी हैं।

कर्मयोग की महिमा भगवान् द्वितीय अध्याय से ही गाते चले आ रहे हैं। वे उसे संन्यास के समकक्ष ठहराते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस निष्काम कर्मयोग के संबंध में स्पष्ट कहते हैं, "ईश्वर के साथ किसी तरह से जुड़कर कर्म करते हुए जीना, यही कर्मयोग है"। दो मार्ग हैं—कर्मयोग और मनोयोग। जो लोग आश्रम में हैं, उनका योग कर्म के द्वारा होता है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। संन्यासी लोग काम्यकर्म छोड़ दें, किंतु नित्यकर्म कामनाशून्य होकर करें। दंड धारण, भिक्षाटन, तीर्थयात्रा, पूजा, जप आदि कर्म बिना किसी कामना के करते हुए योग की संसिद्धि को प्राप्त हों। बड़ा ही स्पष्ट निर्देश है एवं पूरे श्लोक की समुचित व्याख्या भी है। भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि कर्म के द्वारा ईश्वर के साथ संयोग ही कर्मयोग है। जिस कर्म में भगवान् से संबंध स्थापित नहीं होता, वह मात्र कर्म है, कर्मयोग नहीं।

गृहस्थ योगी

श्यामाचरण लाहिड़ी का एक प्रसंग है। वे एक क्लर्क मात्र थे, किंतु उच्चस्तरीय सिद्धि प्राप्त योगी थे। वे प्रसिद्ध संन्यासी-सिद्ध योगी तैलंग स्वामी के पास मिलने आए, तो तैलंग स्वामी खड़े होकर उनको सम्मानास्पद स्थान देकर मिले। तैलंग स्वामी एक अवधूत थे, दिगंबर थे एवं बड़े सिद्ध स्तर के संन्यासियों में उनकी गिनती होती थी। बहुत बड़ा उनका संप्रदाय था, ढेरों शिष्य थे। शिष्यों ने यह दृश्य देखा, तो पूछ बैठे कि आप किसी धोती-कुरताधारी को क्यों खड़े होकर मिले और उन्हें आपने नमन किया, तो तैलंग स्वामी बोले, “जिस कार्य के लिए मुझे लंगोटी पहनकर वर्षों तप करना पड़ा, कठोर साधनाएँ करनी पड़ीं, उसे इसने कर्मयोग करते-करते धोती कुरता पहने ही प्राप्त कर लिया है। इसने कर्मयोग से ही उस कौशल को, सर्वोच्च पद की सिद्धि हासिल कर ली, जिसके लिए संन्यासी वर्षों तप करते रहते हैं, कठोर तप-तितिक्षा के मार्ग से गुजरते हैं।” यह उदाहरण बताता है कि साधना से सिद्धि का यह दो नामों वाला एक ही मार्ग है। कोई भी किसी भी एक का अनुसरण कर ले, तो वह परम लक्ष्य को पा लेगा। वह द्रष्टा (यः पश्यति स पश्यति) बन जाएगा।

योगीराज श्यामाचरण जी लाहिड़ी के कई प्रसंग परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से हिमालय के प्रसंगों में, साधना संबंधी गुह्य विवेचनाओं में एवं सुप्रसिद्ध पुस्तक ‘योगी कथामृत’ (एन ऑटोबायोग्राफी ऑफ योगी-स्वा० योगानंद परमहंस) में पढ़ने को मिलते हैं। रानीखेत (उत्तरांचल) के आगे दुर्गम हिमालय के ऊपरी क्षेत्र में वे मात्र संकल्प से सूक्ष्म शरीर से पहुँच जाते थे एवं ढेरों व्यक्तियों को उनसे योग के मार्ग पर प्रशस्त किया था। उनसे कर्म को कौशलपूर्वक संपन्न कर अपने अंदर वह शक्ति जाग्रत् कर ली थी, जो किसी को सब कुछ छोड़कर

मिलती है। परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि मनःस्थिति योगी की होनी चाहिए, बहिरंग कैसा भी हो, अंतरंग परिष्कृत होना चाहिए।

नाग महाशय

श्री रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य थे, एक नाग महाशय (डॉ० दुर्गाचरण नाग), जो गृहस्थ थे एवं दूसरे स्वामी विवेकानंद, जो संन्यासी थे। नाग महाशय गृहस्थ में भी संन्यासी का जीवन जीते थे। स्वयं स्वामी विवेकानंद, जो कि माता के दबावों-परिजनों के आग्रहों के बाद भी जन्म से ही संन्यासी रहे, संन्यास की स्थिति में ही एक आदर्श जीवन जीकर, संक्षिप्त-सा जीवन जीकर गए, अंत तक नाग महाशय को सबसे बड़ा संन्यासी-योगी मानते रहे। वे कहते थे कि नाग महाशय डॉक्टर भी हैं, इलाज भी करते हैं, गृहस्थ भी हैं, पर उससे भी ऊपर सबसे बड़े योगी हैं। उनकी जो उपलब्धियाँ हैं, वे बिरले संन्यासी ही प्राप्त कर पाते हैं, ऐसा उनका मत था। इससे स्पष्ट होता है कि लक्ष्य प्राप्ति में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। कर्म कैसे किए जाएँ, बस यही समझ लेना जरूरी है। कैसे उनमें 'परफेक्शन' लाया जाए, यही मर्म समझ में आ जाए तो सिद्धि सुनिश्चित है।

हम स्वयं कई स्थानों पर आज के इस कलियुग में देखते हैं कि लोगों में गैरिक वस्त्रधारी संन्यासीजनों के प्रति बड़ा 'क्रेज' है। इस हद तक पागलपन है कि वे कर्म को गौण समझकर वेश को ही सब कुछ मान उनके जीवन को न देखकर उनसे सिद्धि की आकांक्षा रखने लगते हैं। कुछ प्राप्ति के प्रलोभन में 'स्वामी जी' के स्पर्श की वस्तु, उनके पाँव की धोवन, उनके हाथ से स्पर्श किया कोई भी पदार्थ स्वीकारने में झिझकते नहीं। स्वयं कुछ कर्म या पुरुषार्थ करना नहीं चाहते। वे किसी चमत्कार की अपेक्षा रखते हैं। 'जो स्वयं बहुत निर्बल हो, औरों को वह क्या देगा' की काव्यपंक्ति के अनुसार वक्तृता की कला में माहिर मात्र

संन्यासी वेशधारी व्यक्ति, जो निज के जीवन की दुर्बलताओं को नहीं मिटा पाया, औरों को क्या कुछ दे सकेगा, यह सोचना चाहिए। कर्मयोग को तुलाधार वैश्य की तरह, रैक्क की तरह, सदन कसाई की तरह हम ऐसा प्रखर बनाएँ, भगवद् भक्ति इतनी प्रगाढ़ स्तर की बना लें, तो स्वतः हम सांख्य-संन्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ पा सकते हैं।

क्या हो हमारा आदर्श

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवन भर एक संन्यासी की मनःस्थिति में रहकर प्रचंड पुरुषार्थ किया, एक सद्गृहस्थ का जीवन जिया व औरों के लिए एक मार्गदर्शक जीवन जीकर वे पथ प्रशस्त कर गए। वे कहते थे कि वास्तव में यदि हम युग साधना करते हैं, तो जो कर्म हम करते हैं-उनमें पूरी ईमानदारी बरतें। कर्मयोग का आदर्श किसी भी सार्वजनिक-राष्ट्रोत्थान को समर्पित संस्था का क्या होना चाहिए? इस पर पूज्यवर कहते थे, हमारा आदर्श लोकमान्य तिलक होना चाहिए, शहीद भगत सिंह, राम प्रसाद बिस्मिल, चंद्रशेखर आज़ाद, सुभाषचंद्र बोस होना चाहिए। जो इस तरह युगधर्म का पालन करता है, तो वह व्यापारी हो अथवा अधिकारी, पूरी तरह सांख्य में प्रतिष्ठित हो अपने लक्ष्य की सिद्धि तक पहुँच जाता है। स्वार्थ और अहं को त्यागकर अपना सर्वस्व राष्ट्र व समाज के लिए निछावर करने वाला व्यक्ति महामानव पद पाता है। जो युग की चुनौती को स्वीकार करे और अपने-पराये का मान रखकर कर्म करे, तो वह आत्मिक प्रगति स्वयं करता चला जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि जो यह देखता है कि कौन मेरा है, कौन पराया, तो वह राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है। राग आया, मोह आया, तो फिर परिग्रह आ जाता है, फिर कर्म दूषित होने लगते हैं। जिन्हें सब अपने दिखाई देते हैं, वे अपनी, अपने रिश्तेदारों की मोह वाली जिंदगी नहीं जीते। परमार्थपरायण जीवन जीते हैं, लोकहितार्थाय

अपना समग्र पुरुषार्थ करते हैं। आत्मकल्याण व लोक कल्याण का जिसमें सच्चा समन्वय है, वह कर्मयोग का मार्ग ही है, जिसकी विशद चर्चा भगवान् पाँचवें के बाद अब छोटे श्लोक में करने जा रहे हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ५/६

हे अर्जुन! कर्मों के संपादन के बिना कर्मों का त्याग (संन्यास) संभव नहीं है, अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। योग के आचरण से शुद्ध हुआ भगवत्स्वरूप को मनन करते रहने वाला कर्मयोगी परब्रह्म-परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

पहले कर्मयोग का अनुष्ठान करें

कर्मयोग एवं सांख्ययोग अविभाज्य हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं, तब भी योगेश्वर बार-बार एक ही बात कह रहे हैं—विशुद्ध रूप से यज्ञीय भाव से नियत कर्मों का संपादन करो। सीधे सांख्य मार्ग पर जाने की तुलना में यह मार्ग श्रेयस्कर है एवं श्रीकृष्ण द्वारा अनुमोदित है। इस श्लोक में वे कहते हैं कि पहले कर्मों का संपादन करो, आसक्ति छोड़कर करो, तब तुम्हारे अंदर वह शुचिता जन्म लेगी, जिससे तुम ध्यानयोगी बन सको, ताकि परमात्मा की प्राप्ति का लाभ प्राप्त कर सको, इसीलिए वे कहते हैं कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के बिना संन्यास दुःखप्राप्ति का मार्ग बनकर रह जाता है (संन्यासस्तु दुःखमाप्तुमयोगतः)। जो दुःख दे, कष्ट दे, प्रचंड द्वंद्वों-झंझावातों में उलझा दे, वह मार्ग अपनाया ही क्यों जाए। आगे वे कहते हैं, योगयुक्त-निष्काम कर्मयोगी मुनिजन (ज्ञानी-सांख्ययोगी-मौन संन्यासी-मनन करने वाले ध्यानयोगी) 'न चिरेण' अर्थात् शीघ्र ही 'ब्रह्म अधिगच्छति' अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक बड़े मार्मिक भाव व्यक्त करता है—आज के हर जिज्ञासु के लिए, अध्यात्म पथ के पथिक के लिए। जो भोक्ताभाव के त्याग का अभ्यास न कर पाए, उसके लिए तो कर्त्ताभाव का त्याग अत्यधिक कठिन है, इसलिए निष्काम कर्मयोगी बन भीतर की वासनाओं का क्षय करते हुए विवेक-बुद्धि को सतत परिष्कृत कर जीना चाहिए। जब तक आंतरिक गड़बड़ी ठीक नहीं होगी, बाहर का संन्यास किस काम का? आंतरिक गड़बड़ी ठीक करने के लिए यथाशक्ति कर्मयोग का संपादन, लक्ष्य के प्रति समर्पण, सांस्कृतिक उत्थान के लिए निज का नियोजन होना चाहिए। यही सच्चा योगानुशासन है एवं योगयुक्त एक संगठित व्यक्तित्व बनाने की कार्यशाला है। ऐसा करते-करते साधक ध्यान मार्ग में प्रवेश करने का अधिकार पा लेता है एवं अनंत ब्रह्म से साक्षात्कार का पूर्ण आनंदमय अनुभव प्राप्त करता है।

यह संन्यास किस काम का

भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि कर्मयोग का दीर्घकाल तक अभ्यास किए बिना (अयोगतः) व्यक्ति के लिए संन्यास दुःख देने वाला ही सिद्ध होगा। लक्ष्य के प्रति समर्पित भाव से जीना, यज्ञीय भाव से कर्म करते रहना हर मनुष्य के लिए बताया गया भगवान् का एक अनुशासन है। एक नरपशु तो संकीर्ण स्वार्थपरता का, वासना पूर्ति का जीवन जीता है; किंतु पूर्णतः विकसित मानव, ध्यानयोग में अधिष्ठित कर्मयोगी अपने दिव्य स्वरूप को पहचान कर दिव्य कर्मों में ही लीन हो जीवन जीता है। इस तरह योग की महिमा सर्वोपरि है, फिर संन्यास की बात आती है। यह सरल व श्रेयस्कर मार्ग है। योग के बिना संन्यास की कल्पना भी कैसे की जाए? कर्मयोग इस प्रकार पहले, फिर संन्यास की बात। परम पूज्य गुरुदेव यही कहा करते थे कि यदि छप्पन लाख बाबाजी लोगों ने कर्मयोग अपना लिया होता, तो विगत पचास वर्षों में

देश कहाँ का कहाँ पहुँच गया होता। सभी ऐसे होते हैं—यह बात नहीं, पर अधिकांश ऐसे हैं, जो मजबूरी में, आवश्यकतानुसार, किसी लालच के कारण, बिना किसी उद्देश्य या लक्ष्य के इस वेश को धारण कर उसे बदनाम करने पर तुले हैं, जबकि यह स्थान समाज का शीर्ष-सर्वोपरि कहा जाता रहा है एवं देश ही नहीं, विश्व के मार्गदर्शक संत इस परंपरा से निकलते रहे हैं, चाहे हम उन्हें संत ज्ञानेश्वर के रूप में जानें, एकनाथ या निवृत्तिनाथ के रूप में अथवा समर्थ गुरु रामदास, महर्षि दयानंद एवं स्वामी विवेकानंद के रूप में।

हमें एक संन्यासी महाराजश्री के आश्रम में एक उपाधि-पुरस्कार हेतु आमंत्रित किया गया। वहाँ पर उनके जन्मदिवस व भंडारे के उपलक्ष्य में आयोजित अवसर पर ढेर सारे बाबाजी पहुँच गए। सभी गाँजा पीकर, सुलफे की चिलम चढ़ाकर नारे लगा रहे थे कि उन्हें और पैसे दिए जाएँ। महाराज जी ने प्रत्येक को एक सौ रुपये देने का क्रम बनाया था, पर तथाकथित संन्यासी वेशधारी बाबाजी लोगों की नारेबाजी चालू थी कि हमें ५०१ रुपये चाहिए। वे किसी तरह उनके बीच से निकलकर आए, तो बोले, मैं महाभूतों की पंचायत में से किसी तरह निकलकर आया हूँ; क्योंकि मुझे तो इन्हीं के बीच रहना है, वैराग्य धर्म का पालन करना है, इन्हें साथ लेकर चलना ही होगा। हमने कहा कि जो अकर्मण्य हैं, नशा करते हैं एवं नारेबाजी करते हैं, उन्हें साथ लेकर चलने से क्या लाभ? ये तो भिक्षुक मात्र हैं। हमारे गुरुदेव ने, तो हमें सद्गृहस्थों की फौज के बीच बिठा दिया है, जो पूर्णतः कर्मयोगी हैं। आपको नहीं लगता कि आपको क्रांति करनी चाहिए, इनसे मुक्ति पानी चाहिए, इस संन्यास धर्म का उद्धार करना चाहिए। स्वामी जी का कहना था कि यह तो शिवजी की बारात है। हमें इनको साथ लेकर चलना ही होगा। इनसे कोई परिवर्तन की अपेक्षा तो हम नहीं रखते।

जब हमारी गाड़ी स्वामी जी के आश्रम से निकल रही थी, तो वे विशुद्ध रूप से गालियाँ दे रहे थे, जो सभ्य समाज में सुनना भी पाप है। अपने मेजबान से कह रहे थे कि सब इन्हीं को दे दो, इन्हीं पर लुटा दो, हमें मत दो, हम देख लेंगे तुम्हें। हमें यह दृश्य देखकर स्वामी जी की दयनीय स्थिति का अनुभव कर बड़ा दुःख हुआ एवं मन में विचार भी आया कि यह किन विडंबनाओं में उलझ गए—आज के तथाकथित बैरागी-संन्यासी। परमपूज्य गुरुदेव की बात याद आई कि इस युग का नवसंन्यास परिव्राजक धर्म है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए देव-परिवार का निर्माण करो, अपनी वासनाओं को क्षय करते हुए समाज की सेवा करो, यही आज का युगधर्म है। सारा गायत्री परिवार इसी कार्य में लगा है एवं सच्चे कर्मयोगी की तरह कार्य कर आंतरिक सुख की अनुभूति करता है। आज के संन्यास की यह दुर्गति योगेश्वर श्रीकृष्ण के छठे श्लोक में बताई गई बात के अनुपालन न करने से हुई है, वह है पहले कर्मयोग, फिर संन्यास।



कर्त्ताभाव से मुक्त द्रष्टा स्तर का दिव्यकर्मी

चिकित्सक-शिक्षक श्रीकृष्ण

इस महत्त्वपूर्ण पाँचवें अध्याय का छठाँ श्लोक हमें बड़े स्पष्ट रूप में कह रहा है कि कर्मों के संपादन के बिना कर्मों का त्याग संभव नहीं है अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर द्वारा होने वाले संपूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। योग के आचरण से शुद्ध हुआ भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है (न चिरेण ब्रह्म अधिगच्छति)।

अब इस बात को समझने का प्रयास करें। यज्ञीय भाव से निरंतर कर्म में लगे रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा श्रीकृष्ण का आदेश है। कर्मों का संपादन, आसक्ति का त्याग, शुचिता का विकास, ध्यानयोगी बनने का अध्यवसाय एवं फिर परब्रह्म परमात्मा की-परमपद की प्राप्ति। यही राजमार्ग वे अर्जुन को व उसके माध्यम से हम सभी को समझा रहे हैं। वे कहते भी हैं निष्काम कर्म का अनुष्ठान किए बिना संन्यास मात्र दुःखप्राप्ति का निमित्त बनकर रह जाता है (संन्यासस्तु दुःखमाप्तुम् अयोगतः)। ऐसा मार्ग अपनाया ही क्यों जाए, जो दुःख दे व जीवन में शांति कभी आने ही न दे।

हम सबके जीवन में एक स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिए और इस लक्ष्य के प्रति पूरा समर्पण भी होना चाहिए। भीतर छिपी वासनाएँ हमारे विचाररूपी मानसरोवर को सदा गंदा ही करती रहेंगी, यदि हमने उनके क्षय का मार्ग न निकाला और वासनाओं का क्षय निष्काम कर्मयोग के बिना संभव नहीं। समाज की सेवा हमारे लिए हृदयशुद्धि-आत्मसत्ता के लिए एक शिक्षण एवं संस्कृति के विकास का अवसर लेकर आती है। यह समाजसेवा योगानुशासन से भरे कर्म से ही संभव

है, सकाम कर्म से नहीं। हर किसी के लिए यह अनिवार्य भी है। कर्मयोग से ध्यानयोग व उसके बाद योगयुक्त मुनि बनने का एक सरल-सा मार्ग है, पर संन्यास सभी कर्मों का त्याग, इस मार्ग पर नहीं ले जाता, इसलिए सभी के लिए कर्मयोग का मार्ग ही निर्धारित है। जिस योगी ने कर्मयोग का दीर्घकाल तक अभ्यास कर लिया है, वह संन्यास के मार्ग पर प्रतिष्ठित हो सकता है, यह सम्मति श्रीकृष्ण की है। 'अयोगतः' अर्थात् कर्मयोग न करने वाले के लिए, तो संन्यास दुःख का ही कारण बनता है, यह भी वे बताते हैं।

मानव की सेवा पहले, फिर प्रभु की सेवा यह श्रीकृष्ण का निर्देश है। इस बात को बताते-बताते व अगले श्लोक की ओर बढ़ते हुए भगवान् एक तथ्य स्पष्ट कर जाते हैं कि अहंभाव से संपादित होने वाले सभी कर्म कर्ताभाव से जुड़े होते हैं। यह जब तक विसर्जित नहीं होगा, मनुष्य तनाव-अशांति में जिएगा, कभी प्रभु से उसका साक्षात्कार हो न पाएगा। बिना अहंकार के, बिना किसी प्रकार की कामना के जीवन जीने की कला का शिक्षण देने वाले श्रीकृष्ण एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षक भी हैं, मनोचिकित्सक भी।

अगला श्लोक कहता है-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५/७

जिसने समर्पित कर्मों द्वारा अपने मन को अपने वश में कर लिया है, इंद्रियाँ जिसकी वश में हैं एवं जिसकी बुद्धि-अंतःकरण इन कर्मों से शुद्ध हो गए हैं तथा जो सतत यह अनुभव करता है कि संपूर्ण प्राणियों की आत्मा रूप परमात्मा ही उसके भीतर है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उनमें कभी लिप्त नहीं होता।

सच्चे योगी के तीन लक्षण

भगवान् इस श्लोक में एक साथ कई बातें कह गए हैं। वे कहते हैं कि जिसका मन अपने नियंत्रण में है तथा जो शुद्ध अंतःकरण वाला है, वही योगी है। इतना ही नहीं, जो जीवन जीते हुए सतत एक ही अनुभूति करता रहता है कि संपूर्ण प्राणियों की आत्मा परमात्मसत्ता के रूप में उसके अंदर भी है, वह भी उनके साथ एक भाव रखते हुए सतत कर्म कर रहा है। यदि वह ऐसा कहता है, तो वह कर्म करते हुए भी उनमें लिस नहीं होता अर्थात् ये कर्म उसके लिए बंधन-आसक्ति का कारण नहीं बनते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस बात को इस तरह कहा है, 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त' अर्थात् इस भाव से कर्म किया जाए कि मैं तो सेवक मात्र हूँ, ये सारे कर्म, तो भगवान् के लिए ही हैं। यह सेव्य भाव जिस दिन आ जाता है, उस समय व्यक्ति को कोई भी कर्म बंधनों में नहीं बाँधता। किसी भी कर्म की फिर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। फिर वे पुण्यों की सूची में जुड़ते चले जाते हैं। कोई क्रोध दिलाए, तो क्रोध नहीं आता। कोई तारीफ करे, तो हम प्रभावित नहीं होते। एक तरह से स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति हमारी हो जाती है। कोई भी कर्म करते हुए भी ऐसा लगता है कि हम उसमें तनिक भी लिस नहीं हैं, हम तो उस कर्म के निमित्त मात्र हैं।

किसी के भी मन में प्रश्न आ सकता है कि श्रीकृष्ण यह क्या कह रहे हैं। अहंकाररहित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति क्या कर पाएगा? वह तो कर्मों की दृष्टि से नाकारा और किसी भी जाति-समाज की उन्नति में बाधक ही सिद्ध होगा। यदि ऐसा होता, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को ऐसी शिक्षा क्यों देते? वस्तुतः वे इन श्लोकों के माध्यम से अर्जुन को एक साधक के रूप में विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। अहंकाररहित दृष्टिकोण का विकास ही वह साधना है, जो कर्मयोगी के रूप में अर्जुन

को करना चाहिए—ऐसा श्रीकृष्ण का मानना है। वे कहते हैं कि अहंभाव—कर्ताभाव का समावेश करता है। यह यहाँ तक तो ठीक है कि कर्म का गौरव हम अनुभव करें, किंतु यदि यह अनावश्यक रूप से निरर्थक जिम्मेदारियों का बोझ आप पर लाद दे व सारी दुनिया के आप ठेकेदार स्वयं को महसूस करने लगें, तो फिर मानसिक तनाव—अशांति का ही कारण बनेगा।

स्वामी चिन्मयानंद जी (चिन्मय मिशन) बड़े सुंदर ढंग से इसे समझाते हैं, “एक नदी बह रही है। वह स्वभावतः ही बह रही है, लेकिन आप यदि किसी चट्टान पर बैठ जाएँ और नदी के जल में अपना पैर डालकर हिलाने लगें तो यह आपकी मौज है। परंतु यह अनुभव करना और फिर आग्रह करने लगना कि मेरा पैर हिलाना ही नदी के प्रवाह का कारण है—“मैं ही नदी को बहा रहा हूँ।”—एक मिथ्या दृष्टिकोण है। इससे हमें थकावट, चिंता और मानसिक तनाव की ही प्राप्ति होगी।” (पृष्ठ २२५, ‘मानव निर्माण कला’ से)।

कर्मों द्वारा वासनाओं से मुक्ति कैसे मिले

हम सभी को अहंकेंद्रित कामनाओं के बिना जीने और श्रेष्ठतम ढंग से कार्य करते हुए सेवा करते रहने की कला सीखनी ही होगी। इसी में हमारे जन्म की सार्थकता है, हमारा गौरव है। ऐसे ही कार्यों से हमें मानसिक शांति मिलेगी। कर्मों द्वारा अपने व्यक्तित्व को वासनाओं से कैसे मुक्त किया जाए? इसकी कार्यशैली श्रीकृष्ण इस श्लोक में हमें समझा रहे हैं। ऐसा करने के लिए उनके अनुसार तीन बातों की आवश्यकता है।

१. सबसे पहले अपने को श्रेष्ठ योगी बनाना, हर श्वास में योगमय जीवन जीते हुए अपनी बुद्धि-अंतःकरण को शुद्ध करना—ऐसे कर्म करना। (योगयुक्तो विशुद्धात्मा)

२. फिर अपने मन को अपने वश में करना, इंद्रियों पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। (विजितात्मा जितेन्द्रियः)

३. सभी जीवों में वही परमात्मा समाया है, जो अपने भीतर है, इस तथ्य की सतत अनुभूति करते हुए निरंतर कर्म करते रहना। (सर्व भूतात्मभूतात्मा) यदि ऐसा होता है, तो कर्म बंधन का कारण नहीं बनते। (कुर्वन्नपि न लिप्यते)

हर कर्म निःस्वार्थ, समर्पण भाव से हों, दैनंदिन जीवन में ऐसे करते हुए प्रति क्षण हम अपनी वासनाएँ क्षीण करते चलें, यही संक्षोभों-विक्षोभों से मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। इससे बुद्धि में चल रहे सारे विभ्रम शांत हो जाते हैं। बुद्धि के शांत होते ही मन भी स्वाभाविक रूप से नियंत्रित हो जाता है। जिस पल हमारी कामनाएँ-इच्छाएँ तिरोहित हो जाएँगी, उसी पल हम अपने अंदर शांति का साम्राज्य स्थापित कर लेंगे, इंद्रियाँ हमारी अपने नियंत्रण में आ जाएँगी। जब बुद्धि, मन व काया तीनों हमारे द्वारा साध लिए गए, तो साधक अपनी आत्मसत्ता में एक ऐसे सत्य की अनुभूति करने लगता है कि उसकी अंतरात्मा ही सब भूतों में, जीवमात्र में स्थित आत्मा है। वह एक विलक्षण प्रसन्नता की अनुभूति करने लगता है।

कुर्वन्नपि न लिप्यते

आत्मतत्त्व की अनुभूति कैसे हो ? यह प्रश्न कई साधकों के मन में आता रहता है। इसके लिए वे हाथ-पाँव मारते व कई तरह के पुरुषार्थ करते हैं। कोई किताबें चटकर जाता है, तरह-तरह के ग्रंथों में उसे ढूँढ़ने की कोशिश करता है, कोई वैरागी होने का ढोंग रचता है व अकर्मण्य बन किसी तरह ध्यानस्थ होने की बात मन में विचारता है। पर आत्मा का दर्शन उसे ही होगा, जो श्रीकृष्ण की इस श्लोक में कही गई बातों पर अमल करेगा। जब यह होगा एवं उसे सर्वात्मा के रूप में

परमसत्ता ही अपने भीतर चहुँओर दिखाई देने लगेगी, तो उसे किसी भी अवस्था में कोई भी कर्म कभी भी लिस नहीं कर सकते, वह अनासक्त ही बना रहेगा (कुर्वन्नपि न लिप्यते)।

सच्चा कर्मयोगी वही है, जो जीवन के विभिन्न कर्म करते हुए भी परमात्मा से कभी विलग नहीं होता। कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता, अकर्म की स्थिति में जीता है। उसकी आस्था उसके अनुभवों में बदल जाती है एवं तब सच्चे संन्यास का जन्म होता है। वह भावुक भी होता है, भावनाशील भी। परमार्थपरायण भी होता है तथा 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की तरह सभी के अंदर उसे वही परमात्मा की सत्ता दिखाई देती है, जो उसके निज के अंदर भी विद्यमान है। परम पूज्य गुरुदेव का जीवन इसी दर्शन से ओत-प्रोत हम देखते हैं।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

'हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ' प्रसंग से अखंड ज्योति पत्रिका में एक धारावाहिक शृंखला परम पूज्य गुरुदेव की विदाई की पूर्ववेला में प्रकाशित हुई थी। इसमें उनने अपनी जीवन-साधना के तीन चरणों का उल्लेख किया था, मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्वभूतेषु। अपने समान सबको देखना। वे लिखते हैं कि कहने-सुनने में ये शब्द मामूली से लगते हैं और सामान्यतः नागरिक कर्त्तव्यों का पालन, शिष्टाचार-सद्व्यवहार की सीमा तक पहुँचकर बात पूरी हो गई दीखती है, पर वस्तुतः इस तत्त्वज्ञान की सीमा अति विस्तृत है। उसकी परिधि वहाँ पहुँचती है, जहाँ परमात्मा के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुँचती है, जहाँ परमात्मा के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुँचती है। साधना के लिए दूसरे के अंतरंग के साथ अपना अंतरंग जोड़ना पड़ता है और उसकी संवेदनाओं को अपनी संवेदना समझना पड़ता है। (सुनसान के सहचर, पुस्तक पृष्ठ ९३ से)

वस्तुतः हमारी गुरुसत्ता ने इस तत्त्वदर्शन को अपने जीवन में उतारा एवं यही उनकी सिद्धि का मूल बना। वे लिखते हैं कि ऐसी साधना करने वाला मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरों का दुःख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिल्कुल ऐसे लगते हैं मानो यह सब वह नितांत व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए कर रहा हो। जैसे ही अपनी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की संवेदना प्रखर हुई, अंदर की निष्ठुरता उसी क्षण गल-जलकर नष्ट हो गई। जी में केवल करुणा शेष रही। वही अब तक के जीवन के इस अंतिम अध्याय तक यथावत् बनी हुई है। उसमें कमी रत्तीभर भी नहीं है, वरन् दिनोदिन बढ़ोत्तरी ही होती गई। (सुनसान के सहचर, पृष्ठ ९८)

साक्षीभाव में पहुँचा निष्काम कर्मयोगी

सर्वभूतात्माभूतात्मा शब्द जो सातवें श्लोक में आया है, उसकी समीचीन व्याख्या ऊपर के शब्दों में हो जाती है। समस्त प्राणियों के आत्मारूपी परमेश्वर के साथ अपने को अभिन्न देखने वाले निष्काम कर्मयोगी के गुणों का वर्णन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जो यहाँ किया है, वह काव्य की दृष्टि से अद्भुत है। ऐसे व्यक्ति स्वप्न से जाग उठते हैं, जो परम चैतन्य से अब एकाकार हो गए हैं। अब उन्हें निम्न अवस्थाओं के कर्म प्रभावित नहीं करते। इसीलिए अगले दो श्लोकों में श्रीकृष्ण कहते हैं-

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्छिघ्नन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्चसन्॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्निषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ५/८-९

इस प्रकार तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन

करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ तथा आँखों को खोलता-मूँदता हुआ भी (चक्षु उन्मीलन) सभी इंद्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं। (इंद्रियाँ विषयों में विचर रही हैं), ऐसी धारणा करते हुए यह मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

यह व्याख्या वस्तुतः पूर्व श्लोक का उत्तरार्द्ध है, जिसमें पूर्व में कहा गया था, ऐसे आत्मज्ञ व्यक्ति कर्म करके भी लिप्त नहीं होते। यह कैसे संभव हो सकता है, यहाँ बताया गया है। 'युक्त' अर्थात् निष्काम कर्मयोग में लगा व्यक्ति-योगी जब सिद्धियों के उच्चतम आयामों पर पहुँचता है, तो वह पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा दर्शन-श्रवण-स्पर्श-घ्राण-स्वाद ग्रहण तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा गमन, निद्रा, श्वासग्रहण, वाक्यकथन, मल-मूत्रादि त्याग, ग्रहण चक्षु उन्मीलन-निमीलन करते हुए भी वह कुछ भी नहीं करता, ऐसा मानता है; क्योंकि उसकी धारणा है कि वह निर्लिप्त है एवं इंद्रियों का सारा व्यापार स्वतः चल रहा है।

ठाकुर परमहंसदेव ने एक उद्धरण के माध्यम से कहा है, एक चांडाल मांस का बोझ लेकर जा रहा था। शंकराचार्य गंगा नहाकर आ रहे थे। चांडाल ने उन्हें छू लिया। आचार्य ने असंतुष्ट होकर कहा कि तूने अपवित्र कर दिया। चांडाल ने कहा, महात्मन् मैंने आपको नहीं छुआ, न आपने मुझे छुआ। आप स्वयं विचार कीजिए कि क्या आप शरीर हैं या मन या बुद्धि, आप क्या हैं? शुद्ध आत्मा तो निर्लिप्त होती है। सत्, रज, तम इन तीनों में से किसी में भी वह लिप्त नहीं है। एक तरह से चांडाल के माध्यम से स्वयं परमात्मा ने आद्यशंकर को गीता का यह दर्शन समझाया।

द्रष्टा दिव्यकर्मी

जब यह मान्यता हो जाती है, नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। मैं कुछ भी नहीं करता, तो वह कर्त्ताभाव से मुक्त हो

जाता है। इन समस्त शारीरिक क्रियाओं में कहीं भी उसका कर्त्ताभाव आड़े नहीं आता। आंतरिक जागरूकता की इस अवस्था में वह देखता और अनुभव करता है कि इंद्रियाँ ही हैं, जो विषयों में विचरण करती हैं (इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तत इति धारयन्)। ऐसी स्थिति में वह आस-पास के लौकिक क्रियाकलापों के प्रति साक्षी भाव जाग्रत् कर विकसित स्थिति को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः द्रष्टा बन जाता है। यह भाव विकसित होना साधना की उच्चतम स्थिति में पहुँच जाना है। अहंभाव से रहित होते ही हम सही अर्थों में दिव्यकर्मी बन जाते हैं एवं समाज के एक कर्मठ सेवक बनकर पूरे उत्साह के साथ लग जाते हैं। बंधन मुक्ति का तत्त्वदर्शन-अहंभाव से मुक्ति का यह चिंतन गीता का अमृत है। जिसने इसे समझ लिया, उसने मानो ब्रह्म को पा लिया।



कर्मयोग की परमसिद्धि-अंतःशुद्धि

कर्म ब्रह्म को अर्पित हों

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५/१०

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल में कमलपत्र की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। (५/१०)

अहंकार के भाव से मुक्त व्यक्ति जब अपनी आसक्ति को भी त्याग देता है तो वह ऐसी उच्चतम स्थिति में पहुँच जाता है कि वह जो भी कर्म करता है, मानो परमात्मा उन्हें स्वयं कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा व्यक्ति दिव्यकर्मी होता है एवं ब्रह्म में कर्मफल को सौंपकर और कर्तृत्वाभिमान को छोड़कर सारे कर्म करता है। श्री रामकृष्ण परमहंस नरेंद्र को लक्ष्य करके कहते हैं, “ब्रह्म कैसा है, जानता है? जैसे वायु। दुर्गंध-सुगंध वायु के साथ आ रही है, किंतु वायु निर्लिप्त है। इसी तरह ब्रह्म भी निर्लिप्त है। भला-बुरा जीव के लिए है, सत्-असत् जीव के लिए है, ब्रह्म का इससे कुछ भी नाता नहीं। दीपक के सामने कोई भागवत पढ़ता है, कोई जुआ खेलता है, किंतु दीपक निर्लिप्त है। दुःख, पाप, अशांति सभी जीव के लिए हैं, ब्रह्म तो निर्लिप्त है। इस निर्लिप्त आनंदस्वरूप ब्रह्म के साथ निज को अभिन्न मानना ही यथार्थ ज्ञान या मोक्षत्व की प्राप्ति है।”

आगे वे कहते हैं, “किंतु इस ब्रह्म में समर्पण बड़ा ही कठिन काम है। ‘अहं’ को परमात्मा में विलीन कर देना अर्थात् ‘मैं करता हूँ,’ ऐसी बुद्धि को छोड़कर कर्म को करना। अज्ञानी ‘मैं करता हूँ,’ ऐसा समझकर अपने कर्म को अहं के ऊपर स्थापित करता है और परोक्ष

ज्ञानी 'अहं अभिमान' छोड़कर फल सहित कर्म को ब्रह्म में स्थापित या अर्पित करते हैं।' (श्रीमद्भगवद्गीता—स्वामी अपूर्वानंद जी—रामकृष्ण शिवानंद आश्रम, बारासात, प० बंगाल) ।

अहंभाव से परे अक्षरपुरुष

मनुष्य ब्रह्म में समर्पण तब ही कर पाएगा, जब वह त्रिगुणातीत होगा। गुणों ने उसे अपना गुलाम बना रखा है। कभी हमें तमोगुण जड़ता में धर दबोचता है, कभी हमें रजोगुण की आँधी उड़ा ले जाती है और कभी सत्त्वगुण का आंशिक प्रकाश उसे बाँधकर रख लेता है। मनुष्य को इसी कारण सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, आसक्ति-जुगुप्सा अपने वश में करते रहते हैं, उसे जरा भी स्वतंत्रता नहीं है। श्री अरविंद कहते हैं कि मुक्त होने के लिए मनुष्य को प्रकृति के कर्म से पीछे हटकर अक्षरपुरुष की स्थिति में आ जाना होगा। तभी वह त्रिगुणातीत होगा। त्रिगुणातीत अर्थात् स्वार्थपूर्ण अहंभाव से परे हो जाना। ऐसा व्यक्ति समाज का एक योगनिष्ठ कर्तव्यपरायण सेवक होता है तथा जीवन में संपादित उसकी सभी क्रियाएँ उत्साह एवं दिव्य प्रयोजन के साथ होती हैं। कर्मों में कुशलता और सौंदर्य के दर्शन होते हैं।

अहंकार रहित दृष्टिकोण ही हमारे भीतर बैठे सच्चिदानंदरूपी परमात्मा को—श्रेष्ठतम तत्त्व को अनावृत करता है। हम अपनी अपूर्णताओं से ऊपर उठकर जीवन के सभी कार्यों को अति सुंदर ढंग से संपादित करने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति जब आसक्ति को त्यागकर (सङ्गं त्यक्त्वा), ब्रह्मार्पणपूर्वक (ब्रह्मण्याधाय), अपने कर्म करता है (कर्माणि करोति यः) तो वह ऐसा दिव्यकर्मी व्यक्ति बन जाता है, जिसने कर्ताभाव-अहंकार का समर्पण कर दिया हो। फिर वह कर्म करते हुए भी नई वासनाओं से नहीं बँधता और न ही पाप से लिपायमान ही होता है (लिप्यते न स पापेन) और ऐसी स्थिति में जल में रहने वाले कमलपत्र के समान जगत् में अपनी स्थिति बनाए रखता है (पद्मपत्र-मिवाम्भसा)।

काव्य की दृष्टि से अति सुंदर, विलक्षण स्तर के इस श्लोक में जो उपमा दी गई है, वह हमें गीताजी के दर्शन का वास्तविक रसास्वादन कराती है। हम जल में कमल के समान रहें। कमल पंकज कहलाता है, पंक अर्थात् कीचड़ से जन्मा—कमल। वह न कीचड़ से लिस होता है, न जल से। वह तो बस कमल ही होता है, जिसकी तुलना विष्णु भगवान् के नेत्रों से की गई है, जो शिवलिंग पर चढ़ाया जाता है। गीता का अध्यात्म हमें शिक्षण देता है कि हम उच्चस्तरीय चैतन्य में व्याप्त सत्ता के प्रति अपने अहंकार को समर्पित कर और आसक्ति को छोड़ कर्तव्य कर्मों का संपादन करें। निर्लिप्त भाव से हम यदि कर्म करेंगे, तो नई वासनाओं से नहीं बँधेंगे, न ही पाप हमें बंधनों में उलझाएँगे (लिप्यते न स पापेन)। लौकिक दुनिया जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा से भरी पड़ी है, उसमें भी हम उनमें लिस न होकर कमल के पते के समान बने रहेंगे।

किंतु क्या यह संभव है? अहंकार रहित भाव में फिर व्यक्ति कर्म कैसे कर पाएगा? उत्पन्न नई वासनाएँ कहीं उसके व्यक्तित्व को जकड़ तो नहीं लेंगी? क्या वह कर्मों से अपने बंधनों को मुक्त कर सकता है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि हाँ, यह संभव है एवं इसके लिए वे ग्यारहवें श्लोक में संकेत देते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५/११

कर्मयोगी (दिव्यकर्मी-योगिनः) आसक्ति को त्याग करके केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर से भी अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। (५/११)

यज्ञीय भाव से किए गए कर्म पूर्ण समर्पणभावपूर्वक संपन्न होते हैं। ऐसे दिव्यकर्मी अपने आप को कर्म और उसके फल द्वारा लिस न

होने देकर (उनसे आसक्त न हो, प्रभावित न होकर—सङ्गं त्यक्त्वा) अपने मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से मात्र प्रभु अर्पित होकर कर्म करते हैं। (कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि)। कितना स्पष्ट निर्देश है! ज्यादा व्याख्या की जरूरत भी नहीं।

सङ्गं त्यक्त्वा

आसक्ति से मुक्ति-निवृत्ति की बात 'सङ्गं त्यक्त्वा' के माध्यम से बार-बार गीता में आई है। यह दसवें एवं ग्यारहवें श्लोक में लगातार आई है। अहंकार और अहंकेंद्रित कामनाएँ दोनों ही मिलकर आसक्ति को परिभाषित करती हैं। इस भीतर बैठे दानव से जूझकर उससे मुक्ति पा लेना दिव्यकर्मी का एक बहुत महत्वपूर्ण कर्म होता है। इसके लिए वह अलग से कोई उपासना या कर्म नहीं करता। वह यह कर्म सहज रूप में करता हुआ अपनी वर्तमान वासनाओं का क्षय कर लेता है। संसार में संव्यास परमात्मसत्ता की सेवा करते-करते वह मन, बुद्धि, इन्द्रियों को शांत व स्थिर कर लेता है और उस भावावस्था में पहुँच जाता है, जहाँ वह ध्यानस्थ हो जाता है, उसके हृदय की शुद्धि हो जाती है एवं इस शुद्ध अंतःकरण के साथ उसे अनंत शांति की उपलब्धि होती है। हृदयशुद्धि सबसे बड़ी उपलब्धि है, जो निष्काम कर्म करते-करते एक दिव्यकर्मी लोकसेवी को प्राप्त होती है।

तिलक का जीवन

ऐसे कर्मयोगी, जो आसक्ति को त्यागकर जनहितार्थाय अपने कर्म करते रहते हैं, जनसामान्य को अपने आचरण से शिक्षण भी देते हैं एवं बड़ा आदर्श जीवन जीते हैं। लोकमान्य तिलक 'केसरी' और 'मराठा' समाचारपत्रों का संपादन करते थे। दोनों समाचारपत्रों की सारा राष्ट्र प्रतीक्षा करता था; क्योंकि उनमें जन-जन के लिए संदेश

छिपा होता था। आजादी के आंदोलन को आगे बढ़ाने में इन दोनों ही समाचारपत्रों की बड़ी भूमिका थी। और दिन की तरह वे अपने समाचारपत्र का संपादन कर उसे अंतिम रूप दे रहे थे कि खबर आई—आपके बेटे की मृत्यु हो गई है; पत्नी परेशान हैं, तुरंत चले आएँ। आसक्ति से पूर्णतः मुक्त तिलक ने संदेशवाहक से कहा, “बेटा, हमारे बेटे का मरना हमारा व्यक्तिगत दुःख है, किंतु ‘केसरी’ का इंतजार तो सारे देश को है। वह हमारा लोककर्म है। तुम शवयात्रा की व्यवस्था करो, हम संपादन करके अभी आते हैं। यदि यह कार्य रुक गया तो अखबार निकल नहीं पाएगा एवं लाखों व्यक्ति निराश होंगे। इन व्यक्तियों की उम्मीदों को हमारे चिंतन ने जिंदा रखा है, इसलिए हम इसे छोड़ नहीं सकते।” संपादन में तिलक ऐसे लीन हुए कि समय अधिक हो गया। जब तक वे पहुँचे, बेटे को अग्नि दी जा चुकी थी। मरे हुए बेटे को वे देख तक नहीं पाए। ऐसे आदमी को कोई निष्ठुर भी कह सकता है; परंतु अपनी व्यक्तिगत वेदना सहकर भी जो लोक-शिक्षण हेतु कर्म में रत रहे, वही सच्चा कर्मयोगी है। यहाँ ऐसे ही कर्मयोगी की ओर संकेत किया गया है, जो अपनी वेदना को व्यक्तिगत न मान राष्ट्रधर्म में निरत रहा। ग्यारहवाँ श्लोक जिस कर्मयोगी की ओर संकेत करता है, उसका सर्वोच्च आदर्श बालगंगाधर तिलक हैं।

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा जी

परमपूज्य गुरुदेव की मातुश्री का देहांत हो गया। १९७१ के प्रारंभिक महीनों का प्रसंग था। ३-४ माह में ही उन्हें अपने घोषित प्रवास पर हिमालय चले जाना था। वे स्वयं बिलासपुर में दौरे पर थे। उन दिनों उनके बड़े सघन दौरे राष्ट्र के कोने-कोने में चल रहे थे। टेलीफोन करने की कोशिश की गई, तार गया एवं तब तक के लिए एक वरिष्ठ प्रतिनिधि को केन्द्र से भेजा गया; ताकि वे तुरंत लौट आएँ।

पूज्यवर की माता को सभी प्यार से 'ताई' कहते थे। उनने कहा कि जब तक हम पहुँचेंगे-आएँगे, तब तक हमारे लाखों कार्यकर्ता कार्यक्रम न हो पाने के कारण प्रतीक्षा में रहेंगे, निराश हो जाएँगे। अग्रि उनके आने की प्रतीक्षा के बाद प्रज्वलित कर दी गई। बाकी लोगों ने पारिवारिक जनों ने यह काम पूरा किया। गुरुदेव अपना दौरा पूरा कर दस-बारह दिन बाद लौटे। आकर फिर शेष उत्तर कर्म पूरे किए। वंदनीया माताजी ने अपने अंदर की वेदना उन तक पहुँचाने का प्रयास किया कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से उनको आ जाना चाहिए था। गुरुवर का कहना था कि लोक-मंगल के लिए, लोक-शिक्षण के लिए लोकसेवी जीता है। हमारे न आने से कोई फरक भी नहीं पड़ा व क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को निराशा भी नहीं हुई। कोई इसे निष्ठुरता कह सकता है, माँ के प्रति असम्मान भी कह सकता है; परंतु यह दिव्यकर्मी, लोकसेवी के कर्मयोग की पराकाष्ठा है, जिसे ग्यारहवें श्लोक में योगेश्वर ने 'सङ्गं त्यक्त्वा' कहकर परिभाषित किया है। ऐसे व्यक्ति स्थितप्रज्ञ स्तर के महामानव होते हैं एवं जल में पड़े कमल के पत्ते के समान निर्लिप्त जीवन जीते हैं।

योगीराज श्री अरविंद

श्री अरविंद सात सौ पचास रुपये की नौकरी छोड़कर मात्र पचहत्तर रुपये मासिक में नेशनल कॉलेज के प्राचार्य बने। उस जमाने का बड़ौदा महाराज के सचिव स्तर पर सात सौ पचास रुपये का वेतन आज के हिसाब से एक-डेढ़ लाख रुपये प्रतिमाह बनता है; किंतु उनने लोकहित के लिए कम वेतन में नेशनल कॉलेज में प्रशिक्षण देना अनिवार्य माना। इसके साथ-साथ वे 'वंदेमातरम्' का संपादन भी करते थे। उन्हीं दिनों उनकी शादी हुई थी। शादी के बाद पत्नी की कुशलक्षेम पूछकर वे अपने कक्ष में आकर लिखने बैठ गए। कम-से-कम उस रात

तो वे अपनी पत्नी के साथ बैठकर बिताते, व्यावहारिक तो यही था। घोष बाबू की पत्नी उनकी देख-रेख करती थीं; क्योंकि उन्हें स्वयं की अधिक सुध तो रहती थी नहीं। वे मकान मालकिन भी थीं, आयु में बड़ी भी। उनने दो मालाएँ बनाई एवं कहा कि आप अपनी कलम हमें दीजिए, आज की रात आप चुपचाप जाइए व पत्नी के पास रहिए। दो मालाएँ हमने आपके लिए बनाई हैं; एक माला स्वयं पहन लीजिए, एक माला अपनी पत्नी को पहनाइए। आप इतने संकोची हैं कि अपनी पत्नी से भी माला पहनेंगे नहीं। रात भर बैठकर उनसे बात कीजिए। फिर कल आकर जो लिखना है, वह कार्य कीजिएगा।

श्री अरविंद अपनी पत्नी मृणालिनी देवी के पास चले गए। रात्रि ढाई बजे घोष बाबू की पत्नी की नींद खुली, तो उनने देखा कि श्री अरविंद के कक्ष की बत्ती जल रही है और वे अंदर बैठे यथावत् लिख रहे हैं। श्रीमती घोष बाहर ताला लगाकर भी आई थीं; किंतु ये तो संभवतः गए ही नहीं। उनने पूछा तो श्री अरविंद बोले, “हमने आपकी सारी बातें मान लीं, पत्नी को माला पहनाई, उससे बातें कीं। जब सारी बातें समाप्त हो गई, तो वह भी चुप, हम भी चुप। हमने उनसे पूछा कि हम संपादन कर लें, तो वह स्वीकृति देकर सो गई। हम लौट आए। देखा बाहर ताला लगा है। क्रांतिकारी-उग्रवादी होने के नाते हमें छलाँग लगाना तो आता है। हम अंदर आ गए देखा तो आपने हमारे कमरे में ताला लगा रखा है। हमने खिड़की देखी, आधी खुली थी। एक धक्का मारा तो वह भी खुल गई। बिना आपकी नींद को खराब किए हम अंदर आ गए व अपना कार्य करने लगे। आपकी बात भी मान ली एवं आपको जगाया भी नहीं। सारा देश ‘वंदेमातरम्’ की प्रतीक्षा कर रहा है। यदि हम न लिखते, तो कल ‘वंदेमातरम्’ प्रकाशित नहीं होगा। हमारी पत्नी, तो एक दिन इंतजार भी कर लेंगी।” यह घटना श्री नीरोदवरण (जो आज भी श्री अरविंद आश्रम में हैं) के द्वारा ‘मृणालिनी

देवी' नाम से लिखी पुस्तक में उद्धृत है। व्यक्तिगत कार्य कितना ही बड़ा क्यों न हो, स्वयं का विवाह या उसकी प्रथम रात्रि ही क्यों न हो, वह एक तरफ एवं देशहित एक तरफ। यह कर्मयोगी की राग से, आसक्ति से निवृत्ति है एवं लोक-शिक्षण हेतु कर्म के प्रति समर्पण की पराकाष्ठा है। परमपूज्य गुरुदेव अक्सर चर्चा में तिलक एवं श्री अरविंद के इन प्रसंगों को उद्धृत करके कहते थे कि आसक्ति से इस तरह की निवृत्ति किए बिना उच्चस्तरीय लोकसेवी बनना संभव नहीं है।

लोकसेवी की सिद्धि का मर्म

ग्यारहवें श्लोक की धुरी है, योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा—दिव्य कर्मयोगी आसक्ति को त्यागकर सतत कर्म करते रहते हैं। ये कर्म उनके व्यक्तित्व से झरने वाली परमात्म सत्ता की चेतना द्वारा सहज ही होते रहते हैं। वे न किसी कर्म से आसक्त होते हैं, न उसके फल से। हमें इससे क्या मिलेगा, इसकी चिंता उन्हें नहीं होती। पर सहज ही ये कर्म करते-करते एक फलश्रुति, उपलब्धि, दैवी अनुदान उन्हें प्राप्त हो जाते हैं। ये हैं इंद्रिय, मन, बुद्धि और शरीर से किए गए इन कर्मों से मिलने वाली अंतःकरण की शुद्धि (आत्मशुद्धये)। यह सबसे उत्कृष्ट उपलब्धि है और यह कर्मयोग की सिद्धि है। इसके प्राप्त होते ही हमें परम शांति मिलती है, परमात्म सत्ता से तन्मयता मिलती है एवं हम ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं।

ढेर सारी साधनाएँ, दुनिया भर के प्रपंच रचकर भी जो नहीं मिल सकता, वह अपने मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों से प्रभु अर्पित होकर कर्म करने से मिल जाता है। संसाररूपी परमात्मा के इस बगीचे को समुन्नत, सुंदर, व्यवस्थित बनाना ही हमारा कर्तव्य है। हम निज की तो सोचें, पर उसमें आसक्त न हों, उसके लिए परेशान न हों। जो प्रभु की सेवा करता है, दरिद्रनारायण की सेवा करता है, प्रभु उसका

ध्यान रखते हैं। परमपूज्य गुरुदेव कहते थे, “परमार्थ में ही सच्चा स्वार्थ है।” लोकहित की वेदिका में हम कुछ पुष्प अपने कार्यों से समर्पित कर सकें, इससे बड़ा पुण्य कोई नहीं, इससे बड़ा स्वार्थ कोई नहीं। संकीर्ण स्वार्थपरता की तुलना में लोकहित के लिए जीते हुए कर्म करना, बिना किसी आसक्ति के निर्लिप्त भाव से जीना यदि हमें आ जाए, तो हम ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति के राजमार्ग पर चल पड़ते हैं। पर न जाने क्यों हमें अंदर की उस शांति की तुलना में, जो औरों के हित जीने में मिलती है तथा निरासक्त-मुक्तजीवन जीने से मिलती है, अशांति में-तनावों-उद्वेगों में जीना ही पसंद है। इसीलिए तो हमारे कर्म भी उसी तरह के हो जाते हैं और पुनः बंधनों में फँसकर जीना ही हमारी नियति बन जाती है।



न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते

कर्मयोगी बनाम सकामकर्मी

बारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ (५/१२)

प्रत्येक पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् कर्मयोगी (युक्तः) कर्मों के फल का त्याग करके आत्मनिष्ठा से उपजी भगवत् प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होता है; किंतु सकाम कर्म करने वाला व्यक्ति फल में आसक्ति के कारण बंधनों को प्राप्त होता है।

जो यज्ञभाव से सेवा कर रहा है—इसे प्रभु की पूजा ही मानकर सारे समाज व संसार की देखभाल कर रहा है, पीड़ा-पतन और पराभव से भरे समाज में उसे उठाने का काम कर रहा है, वह श्रीकृष्ण के अनुसार भगवत् प्राप्तिरूप शांति को प्राप्त होगा। ऐसी शांति जिससे अहसास हो, मानो साक्षात् परमात्मा मिल गए हों। **युक्तः** (योगी) कर्मफल त्यागकर (**कर्मफलं त्यक्त्वा**) कर्म करता है, भविष्य के प्रति कभी असुरक्षा का भाव मन में नहीं रखता। इस भाव से कर्म करते चलने से उसकी वासनाओं का भी क्रमिक क्षय होता चलता है। वह अंदर से तृप्ति-तुष्टि-शांति की अनुभूति करता है; किंतु वह, जिसके समक्ष कोई आदर्श नहीं, जरा भी समर्पण भाव नहीं (**अयुक्तः**), वह सदैव अपनी अहं केंद्रित भावनाओं में ही मग्न रहता है। संकीर्ण स्वार्थपरता के कीचड़ में फँसकर वह जीवन को तनावमय, अशांतिमय कर लेता है। वह सदैव भविष्य के लिए चिंतित होता रहता व अंततः बंधनों में लिप्त हो जाता है (**कामकारेण फले सक्तो निबध्यते**)। यहाँ सकाम कर्म करने वाले को गीताकार ने **अयुक्तः** शब्द की संज्ञा देकर उसे

कामकारेण एवं फले सक्तो (फल की आसक्ति वाला) शब्दों से जोड़कर बंधनों में, बेड़ियों में जकड़ा बताया है।

दिव्यकर्मियों की रीति-नीति

परमपूज्य गुरुदेव दिव्यकर्मियों के विषय में लिखते हैं, “साधु-ब्राह्मणों के देवसमुदाय से पूछना पड़ेगा कि वे व्यक्तिगत सुविधाओं में कटौती करके सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन की सेवा-साधना के लिए क्यों अपने को समर्पित करते हैं? ऋषियों की परंपरा इतनी कम नहीं थी कि वे विलासियों की तरह साधन-सामग्री उपार्जित नहीं कर सकते थे, फिर क्यों उन गरीबों जैसा बाना पहना? इसका उत्तर भी उसी समाधान के साथ जुड़ा है, जिसमें खाने की तुलना में खिलाने के जायके को अत्यधिक स्वादिष्ट पाया जाता है। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, भामाशाह, मांधाता, अशोक, हर्षवर्धन आदि से पूछा जाना चाहिए कि उनने अपनी संपदा विलास के लिए, उत्तराधिकारियों के लिए जकड़कर क्यों नहीं रखी। बुद्ध और गाँधी से पूछा जाना चाहिए कि वे अपने बुद्धि कौशल से वैभव खरीदने की समझदारी में क्यों अछूते रह गए।” (प्रज्ञा अभियान नव०/दिस० १९८२) इसी प्रकरण में वे आगे सेवा के विषय में लिखते हैं कि ‘भज्’ धातु से बना है—भज् सेवायाम्। सेवा किसकी? तो वे कहते हैं, “आदर्शों की। आदर्शों का समुच्चय ही भगवान् है। दुःखों का तत्काल संकट निवारण करने के लिए कुछ साधन-सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है, पर किसी का स्थायी रूप से दुःख मिटाना हो, तो उसे अपने पैरों पर खड़ा करना होगा और इसका एकमात्र आधार आदर्शों के प्रति उसे निष्ठावान बनाना होगा। इस प्रकार दुःखी को सुखी और सुखी को सुसंस्कृत बनाने का आत्यंतिक आधार एक ही शेष रहता है, आदर्शों को आत्मसात् करना।”

आज तो मनुष्य आस्था-संकट से आक्रांत है एवं इसी कारण भ्रांतियों और विकृतियों के जाल-जंजाल में अधिकाधिक जकड़ता चला जा रहा है। संकीर्ण स्वार्थपरता ही उस पर उन्मादी आवेश की तरह, विषैली शराब की तरह अपना आधिपत्य जमाती चली जा रही है। ऐसे में बंधनों में फँसकर अशांति को प्राप्त होना, विक्षुब्ध होकर रोगी बनना स्वाभाविक है। आज उन्हीं की बाढ़ है। प्रत्येक दूरदर्शी-विवेकवान का यही कर्तव्य है कि वह लोकमानस के परिष्कार रूपी यज्ञकर्म पर अपना ध्यान केंद्रित करे और उसके लिए जितना भी कुछ बन पड़े, वह प्रस्तुत करे। यही सारा सार इस बारहवें श्लोक से निकलता है। युगऋषि का चिंतन हमें इसी ओर सतत ले जाता है।

नवद्वारे पुरे देही

सभी क्रियाओं को यज्ञभाव से करते चलने से कामनाएँ स्वतः समाप्त होती चली जाती हैं। मन स्वच्छ हो जाता है और ध्यानस्थ शांति का अनुभव करने लगता है। दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है एवं 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' परमात्मा के चारों ओर दर्शन होने लगते हैं। आगे श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ (५/१३)

जिसका अंतःकरण उसके वश में है, ऐसा संयमी व्यक्ति सब कर्मों में कर्त्ता का भाव त्याग करके नवद्वारों वाले शरीररूपी नगर में न कुछ करते हुए, न कराते हुए आनंदपूर्वक रहता है। उसका मन सदैव सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में ही स्थित रहता है।

कितना सुंदर एवं विज्ञानसम्मत प्रतिपादन है योगेश्वर का। 'वंशी' अर्थात् जिसने अपने को संयत कर लिया है, अपने विवेक द्वारा (मनसा) यह अनुभव करने लगता है कि किन्हीं भी कर्मों में उसका कोई कर्त्ताभाव नहीं है (सन्नयस्य) एवं वह नवद्वारों वाली नगरी में (इस सुरदुर्लभ मनुष्य तन में) सुखपूर्वक रहता है (आस्ते सुखं)।

हमारा शरीर एक 'पुर' है, एक नगरी है। इसमें शुद्ध अहंभाव प्रासाद रूप में राजमहल की तरह प्रतिष्ठित है। एक मुख, नासिकाओं के दो छिद्र, दो कान, दो नेत्र, एक गुदा और एक मूत्रेन्द्रिय, सब मिलाकर हर मनुष्य-तन में नौ द्वार हैं। ये सभी भली भाँति सुरक्षित हैं एवं अपनी सक्रियता से शरीररूपी इस नगरी को भी सुरक्षित बनाए रखते हैं। रात्रि में सहज रूप में ये द्वार स्वतः बंद हो जाते हैं। इस नगरी में परमपिता परमात्मा न कुछ करते हुए और न कुछ कराते हुए (नैव कुर्वन्न कारयन्) विद्यमान रहता है। उस प्रभु में स्थित 'वशी' विवेकवान् साधक का मन सदैव आनंद की अनुभूति कराता रहता है। जो व्यक्ति अंतर्मुखी हो गया, उसने अपने देवालयरूपी शरीर को प्रभु का उपकरण बनाकर अपनी विशृंखलित होती रहने वाली शक्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। फिर वह ध्यान की उस भावातीत स्थिति में पहुँच गया, जहाँ आत्मा के रूप में वह स्वयं ही चैतन्य रूप में विद्यमान है।

महर्षि रमण एवं पूज्यवर

अष्टदल कमल-षट्चक्रों एवं नवद्वारों वाली यह देह परमात्मा की शक्तियों के प्रवाहित होते रहने का एक माध्यम बन जाती है। हम ऐसे में न कुछ करते-न कराते हुए भी सदैव ध्यानस्थ बने रहते हैं। रमण महर्षि इसका एक आदर्श उदाहरण हैं। तिरुवन्नमलाई की अपनी तपःस्थली में सारा जीवन बिताने वाले तपस्वी रमण महर्षि उन गिने-चुने योगियों में से हैं, जिनके तप ने सूक्ष्म जगत को प्रचंड झंझावातों में अनुप्राणित कर भारत की आजादी का वातावरण बनाया। उनके ब्रह्मतेज ने सारे हिंदुस्तान ही नहीं, विश्वभर को प्रभावित किया। कहीं नहीं गए, कोई प्रवचन नहीं किया, कोई विश्वयात्रा नहीं की, पर बड़े-बड़े वैज्ञानिक उनके समक्ष आते चले गए। हाइजेनबर्ग जैसे वैज्ञानिक और कार्लजुंग जैसे मनोवैज्ञानिक उनके पास आए। मौन उनके तप में सहभागी बन वे पश्चिम के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण सूत्र लेकर गए, जिनके आधार पर आज

के दर्शन व मनोविज्ञान की नींव पड़ी। सरदार पटेल को प्रेरणा मिली एवं बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी को उनसे भेजा रमण महर्षि के पास, यह जानने के लिए कि महर्षि स्वतंत्रता संग्राम हेतु क्या कर रहे हैं? अपनी मितभाषिता द्वारा उनसे बताया कि तुम अपना काम करो, हम अपना काम कर रहे हैं। हम अपने आप में अपनी नवद्वारों वाली नगरी में बैठे वह सब काम कर रहे हैं, जो तपःपूत वातावरण बनाने हेतु जरूरी है। तपश्चर्या में, मौन में बड़ी शक्ति है। तुम उस कर्मयोग में लगे रहो, हम अपना कर्म करते रहेंगे (जो दीखने में प्रायः अकर्म ही होता है)। ब्रह्मतेज की प्रभा से दूर-दूर तक का वातावरण प्रभावित होता है। परमपूज्य गुरुदेव की सूक्ष्मीकरण साधना भी इसी स्तर की थी। उनके एक से डेढ़ वर्ष के चार हिमालय प्रवास जिन घड़ियों में हुए, वे संकट भरी थीं; पर उनके सोद्देश्य तप एवं नवद्वारों वाली उनकी देह परमात्मा की अनंत शक्तियों के झरने का माध्यम बन गई। प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओं में बदलती चली गईं।

ऐसे संत जहाँ कहीं भी होते हैं, उनके उपर्युक्त श्लोक में वर्णित स्वभाव के अनुसार, स्वयं के कर्त्ताभाव के त्याग के कारण उनसे सर्वोत्तम कार्य स्वतः फूट पड़ते हैं। चाहे उनका नाम विवेकानंद हो, दयानंद हो, श्री अरविंद हो, गाँधी हो या विनोबा हो। यही नहीं, आध्यात्मिक के साथ-साथ वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र में भी सफलताएँ हस्तगत होने लगती हैं। ढेरों साहसिक समाज-सुधार के कार्य होने लगते हैं। कहीं ज्योतिबा फुले जाग उठते हैं, तो कहीं महर्षि कर्वे एवं बाबा साहब आम्टे। इस सफलता का आधार है, इन देवालयरूपी देहधारी संतों द्वारा स्वयं को 'संन्यस्य' (कर्त्ताभाव रहित जीवन) की स्थिति में ले आना। आज के आधुनिक विज्ञान की महत्त्वपूर्ण देन चेतना के इस विस्फोट के कारण ही हमें हस्तगत हुई हैं। आज यदि ऐसे भाव वाले ढेरों युवक युगनिर्माण का स्वप्न लेकर खड़े हो जाएँ, तो समाज बदलते देर न लगे।

युवाओं का आह्वान

जितना अनुकूल इसके लिए आज वातावरण है, उतना पहले कभी नहीं रहा। अहंकार रहित, स्वार्थ रहित काम करने वाले प्रशिक्षित युवा यदि समाज आज तैयार कर सका, तो विश्व का पुनर्निर्माण संभव है। गीता बार-बार इसी बात पर जोर देती है व कहती है कि इसमें बताई जीवनपद्धति को व्यवहार में लाओ, अपनी शक्तियों को विस्तारित करो, अपनी बल-सामर्थ्य बढ़ाओ। समाज के जीवन-मूल्यों में एक नई क्रांति ला दो। अखिल विश्व गायत्री परिवार का इसके संस्थापक की सूक्ष्म-कारण सत्ता के माध्यम से आह्वान है; ताकि ऐसा तबका आए और वह बुढ़ौती पीढ़ी को एक सबक सिखाए। युवा मानसिकता एवं संन्यस्य भाव के साथ कर्मठता चाहिए, फिर ऐसे चरित्रनिष्ठ क्रांति लाकर ही रहेंगे। श्रीकृष्ण भी युवा अर्जुन को एक प्रकार से उसकी देह में छिपी अनंत सामर्थ्य का परिचय कराके उसे बार-बार झकझोर रहे हैं। ‘सर्वकर्माणि संन्यस्य’ बार-बार उसी का उद्घोष कर रहा है।

जब गीता बार-बार अहंभाव और उस पर केंद्रित कामनाओं को छोड़कर सेवा-साधना की ओर प्रेरित करती है, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या इस उच्चस्तर पर सभी प्राणी पहुँच सकते हैं। जब स्रष्टा ने ‘एकोऽहं बहुस्यामि’ का व्रत लिया, तो उनकी भी कल्पना रही होगी कि जीव अपना सहज कर्म करता रहे एवं सृष्टि को बढ़ाता रहे। किसी के भी मन में परस्पर विरोधाभास की बात आ सकती है। कहीं श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस सृष्टि का संवर्द्धन करो, कहीं संन्यास (तथाकथित आज का प्रपंचभरा) की आलोचना करते हैं एवं बार-बार आसक्ति को त्यागने, सभी कामनाओं को छोड़कर मात्र सेवाधर्म में नियोजित करते हैं। तो फिर क्या मानव को अपना संतानोत्पादन से लेकर महत्त्वाकांक्षाओं द्वारा आगे बढ़ने की कामना का लक्ष्य छोड़ देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् हमें अगले श्लोकों की ओर ले जाते हैं।

त्रिगुणातीत सृष्टि के क्रीड़ा-कल्लोल की झलक दिखाते हैं। अगला चौदहवाँ श्लोक देखना होगा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (५/१४)

परमेश्वर न तो जनसामान्य के कर्तापन की, न कर्मों की और न ही कर्मफल के संयोग की ही रचना करते हैं। यह कर्मफल संयोग का कारण नहीं है, वस्तुतः यह तो प्रकृति ही है, जो कार्य करती है, स्वभावतः ही सब हो रहा है।

स्वभावस्तु प्रवर्तते

जरा अर्थ पर ध्यान देना होगा। परमात्म सत्ता हमारे अंदर अहंभाव, कामोद्वेग, विभिन्न प्रकार की वासनाएँ पैदा नहीं करती। हमारे कर्म जिन प्राकृतिक इच्छाओं के वशीभूत होते हैं, उनका नियंता, कर्ता-धर्ता परमेश्वर नहीं है। हमारी मशीनरूपी कार या कंप्यूटर में यदि ईंधन है, पॉवर है, ये चलते हैं, तो इनका कारण परमात्मा सुनिश्चित है, पर इसे कैसे चलाया जाए, कहाँ जाया जाए, किस दिशा में जाया जाए, उपकरण का उपयोग कैसे व किन कार्यों में किया जाए, यह काम परमात्मा का नहीं है। श्रीकृष्ण का यह प्रतिपादन बड़ा गूढ़ है व इसे हमें भली भाँति समझना होगा। पंखा अपने आप नहीं घूमता। जब तक विद्युत् शक्ति आर्मेचर में प्रवाहित नहीं होगी, वह चल नहीं पाता। बिजली पंखे की स्वामी है। इसी तरह आत्मसत्ता हमारे यंत्रों की स्वामी होनी चाहिए। जगदीश्वर—वह परम पिता परमात्मा ही हम सबके भीतर की शक्तियों का स्वामी है; किंतु जैसा श्लोक कहता है कि यह जगदीश्वर न तो कर्ताभाव का, न कर्म का सृजनकर्ता है और कर्मफल संयोग का वह निमित्त है। यह तो मानवी प्रकृति ही है, जो कार्य कराती है और सतत मनुष्य को विभिन्न कामों में उलझाए रखती है।

मुक्ति का पथ

हमसे कोई अच्छा कार्य हो जाए, तो हम स्वयं को श्रेय दे देते हैं, जबकि वह जगदीश्वर की कृपा से सचेतन इस जीवन द्वारा प्रकृति पर आरूढ़ होकर संपन्न हुआ है। जब कोई गलत-अनैतिक कार्य हो जाए, तो हम विधि का विधान या किसी और पर दोषारोपण कर देते हैं। वस्तुतः अनंत चैतन्य में विराजमान वह प्रभुसत्ता हमारे कार्यों से निरपेक्ष है। अपनी बुरी आदतों व व्यसनों आदि के लिए भी हम स्वयं को निर्दोष मानते हैं, जबकि कर्ता हम स्वयं हैं। सही बात तो यह है कि पूर्व जन्म में अर्जित हमारे कर्म-संस्कार ही वर्तमान जन्म में प्रारब्ध रूप से प्रकट हुए हैं। ये संस्कार कर्मबीज हैं और प्रकृति की तरह ये भी त्रिगुणमय सत, रज, तम गुणों से युक्त हैं। समर्पण योग से, गुरु की कृपा से एवं तपश्चर्यादि-ज्ञान के संचय से इन प्रारब्धों को काफी सीमा तक काटा जा सकता है, पर इसके लिए अपना नियंत्रण प्रभु के हाथों में सौंपना होगा, जो चेतना के स्फुल्लिंग की तरह हमारे अंदर एषं निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। हर व्यक्ति अपने कर्मों के अनुरूप ही शरीर धारण करके अपने संस्कारों की दिशा अनुसार कार्य करता है, कर्म करता चला जाता है। कर्मों का क्षरण होते रहने से अपने स्वरूप का ज्ञान होता चला जाता है, जो अंततः हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। यह हमारे ऊपर है कि हम अविद्या रूपी प्रकृति से निर्देश लें अथवा अपने अंदर बैठे भगवान् से।



निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन

अंदर की शांति-परमात्मा की प्राप्ति

देखने में इन तीन श्लोकों के अर्थ से यह लगता है कि ये भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं एवं यहाँ किसी अन्य संदर्भ में अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा नहीं है। एक की फलश्रुति दूसरे में व दूसरे की तीसरे में बताकर श्रीकृष्ण अब मूल प्रकरण पर आ गए हैं। पहले में यह कहा कि आसक्ति के बंधनों में बँधकर भगवत्प्राप्तिरूपी शांति नहीं मिल सकती। दूसरे में यह कहा कि कायारूपी (नवद्वारों वाले) इस देवालय से, परमात्मा जिससे निरंतर झरता रहता है, ऐसे उपकरण से 'वशी' संयमी व्यक्ति वे सारे सेवाकार्य यज्ञीय भाव से कर सकता है, जिनसे उसे सत्-चित्-आनंद परमात्मा की अनुभूति हो, सदैव अपने अंदर उस चिरस्थायी शांति का आनंद वह लेता रहे, किंतु यह सब तभी संभव है, जब त्रैगुण्यमयी हमारी प्रकृति से परे हम चलेंगे। मुक्त होने के लिए दिव्यकर्मी को प्रकृति के कर्म से हटकर अक्षर पुरुष की स्थिति में आना होगा। तभी तो हम त्रिगुणातीत हो सकेंगे। जो अपने आप को अक्षर ब्रह्म, अविकारी परमपुरुष, परब्रह्म का एक घटक मानेगा, स्वयं को निर्गुण आत्मा के रूप में जान लेगा, वह प्रकृति के कर्म को साक्षी भाव से स्थिर शांतचित्त के साथ देखेगा, प्रकृति और उसके कर्म से प्रभावित नहीं होगा। प्रभु स्तर की, विभु स्तर की सत्ता कर्म या कर्तृत्व या कर्मफल संयोग की रचना नहीं करती; बल्कि वह तो क्षर भाव में प्रकृति के द्वारा होते चलने वाले सभी कर्मों को मात्र देखती रहती है। यही भाव चौदहवें श्लोक में आया है।

विभु स्तर की अक्षर-पुरुषोत्तम सत्ता

पाठकों को विषय थोड़ा जटिल तो लग रहा होगा, किंतु विगत अंक के अंतिम दो उपशीर्षकों (स्वभावस्तु प्रवर्तते एवं मुक्ति का पथ)

से यह भाव समझ में आ गया होगा कि अविद्यारूपी प्रकृति एवं परब्रह्म, अक्षर-पुरुषोत्तम भगवान् में अंतर क्या है एवं हमें किसकी शरण में जाना चाहिए। कौन हमें चिरस्थायी शांति दे सकता है। भगवद्सत्ता के बारे में आगे चलकर योगेश्वर तो यह भी बोले हैं कि वह तो इस जन्म में किसी भी प्राणी के पाप और पुण्य को अपना मानकर उन्हें अपने सिर पर नहीं लेती (पंद्रहवें श्लोक का पूर्वार्द्ध), फिर हम कैसे उसे निम्नस्थिति में लाकर उसको प्रकृति समान मान बैठते हैं। 'यह तो अंदर बैठा परमात्मा करा रहा है', ऐसा कहने वाला यह समझ ही नहीं पाता कि परमात्मा तो इससे भी परे है। वह तो अपनी आध्यात्मिक विशुद्ध दिव्य स्थिति में सतत विद्यमान है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह तो अज्ञान के कारण होता है कि उससे जन्मा अहंकार उन सबको मानव ने उपलब्ध किया है, यह कहकर अपनी मान लेता है। वह कर्त्तापन की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है और स्वयं को उसी रूप में देखना भी पसंद करता है, न कि अपने असली स्वरूप में। अज्ञान का यह साम्राज्य ही सारे विभ्रमों-अहंताओं-असमंजसों का कारण है। इसी ने ज्ञान को, सही-सच्चे यथार्थ ज्ञान को ढक रखा है। श्लोक क्रमांक पंद्रह है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (५/१५)

वह सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ग्रहण करते हैं। यह तो ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं।

अविद्या-अज्ञान ही मूल कारण

सारी माया उस अज्ञान-अविद्या के कारण है, जिसने ज्ञान को ढक रखा है। यह ज्ञान प्राप्त हो जाए, तो फिर बात ही क्या है। इसी की

प्राप्ति हेतु तो हर कर्मयोगी-दिव्यकर्मी सतत निरत रहता है। इसी अज्ञान के कारण ही तो सारे गलत कार्य आज हो रहे हैं। वही सही दिख रहा है, जो गलत है। सही अर्थों में आत्मभाव में जीने वाले व्यक्ति ऐसे नहीं होते, वे त्रिगुणमयी प्रकृति से नियंत्रित होकर शुभ-अशुभ कर्म नहीं करते; वरन् परमात्म सत्ता में स्थित होकर उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर ही सारे कार्य करते हैं।

यहाँ भगवान् ने मनुष्य को, जो अज्ञानी है, सहज रूप में जंतु घोषित किया है। जीव-जंतु शब्द हम सामान्यतः प्रयोग करते हैं—कीड़े-मकोड़े, मूक जीवधारियों के लिए जिनका शिश्रोदरपरायण (पेट-प्रजनन का) जीवन होता है। भगवान् ने यहाँ उस मनुष्य को भी, जो सुरदुर्लभ मानव तन पाकर ऐसी श्रेष्ठ स्थिति में है एवं तब भी अज्ञान की स्थिति में जी रहा है, 'जंतु', 'एनीमल', 'बिहंग' कहा है।

‘जंतु’ से दिव्यकर्मी की यात्रा

गीता के काव्य की शोभा सही स्थान पर सही शब्दों के चयन में ही है। यहाँ जंतु नाम देकर उनने अपने मन की सारी बात मानो कह दी है कि जो आत्मज्ञानरूपी कस्तूरी नाभि में रखकर भी इधर-उधर ज्ञान की तलाश में घूमते हैं, उनने तो उसे अज्ञान से स्वयं ढक रखा है। कोई अवसर मिला होता एवं इस अज्ञान के आवरण से मुक्त हुआ जा सकता, तो ज्ञान होता कि मनुष्य वास्तव में क्या है? वह तो असीम शक्ति का भाण्डागार है। स्वयं साक्षात् परमात्मा उसमें है। गुरु ऐसी ही स्थिति में से अपने शिष्य को, जो पूर्ण समर्पण भाव के साथ उसके पास आता है, उबारता है और उसे ज्ञान का सुरमा देकर उसकी दृष्टि खोल देता है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

चौथे अध्याय में भी भगवान् ने ज्ञान की महिमा गाई थी (३८ व ३९ वाँ श्लोक) तथा बार-बार यह कहा था कि ज्ञान की नौका में बैठकर तो पापी से पापी व्यक्ति भी तर जाता है (३६ वाँ श्लोक)। यहाँ भी भगवान् उसी ज्ञान का माहात्म्य बखान कर रहे हैं। वह भी त्रिगुणातीत होकर परमसत्ता को समझने हेतु प्रेरित करने के लिए है। यह समझे बिना हम आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में एक भी कदम आगे नहीं रख सकेंगे।

भगवान् का सही स्वरूप

श्रीकृष्ण ने इसीलिए कहा है कि (विभुः) सर्वव्यापी ईश्वर किसी का पाप (कस्यचित् पापं) और पुण्य भी (सुकृतं च एव) ग्रहण नहीं करते (न आदत्ते)। अज्ञानरूपी अविद्या से (अज्ञानेन), सर्वत्र सच्चिदानंदधन परमात्मा व्याप्त हैं, ऐसा ज्ञान (ज्ञानं) ढका रहता है (आवृतं)। उसी से (तेन) जीव-सांसारिक मनुष्य (जन्तवः) मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप ज्ञान को भूलकर आत्मा को संसारी ही समझ बैठते हैं, फलस्वरूप मोहमुग्ध हो भटक जाते हैं (मुह्यन्ति)। शब्दों के विग्रह से गीता के उपदेश को भली भाँति समझा जा सकता है। परमहंस श्री रामकृष्णदेव कहते थे, “वेदांत के अनुसार निर्गुण भाव से परब्रह्म (ब्रह्म) अव्यय आत्मा है और वह जीव का पाप-पुण्य ग्रहण नहीं करते (कर्मफल भोगी नहीं होते)। सगुण भाव से वह ब्रह्म तो जीव की परमगति तथा कर्मफल का प्रदाता ईश्वर है।” वे कहते थे कि जो अखंड सच्चिदानंद हैं, वे ही लीलास्वरूप हो विविध रूप धारण कर आते हैं। वस्तुतः माया ही अज्ञान है। वही अहंबुद्धि को जन्म देती है, जो कि जीव के मोह-बंधन का व आत्मस्वरूप का ज्ञान खो बैठने का कारण बनती है। इस अहंरूपी अज्ञान के मिटने पर ही ब्रह्म आत्मा रूप में प्रकट होते हैं, सही दिव्य शक्तिशाली रूप में पूर्ण ज्ञान के साथ

अवतरित होते हैं। चैतन्य चरितामृत में भगवान् कहते हैं—अद्वय ज्ञान-तत्त्व कृष्णोऽस्व रूपः। ब्रह्म आत्मा भगवान् तिन सार-रूपः॥

दृष्टिकोण ठीक हो, ज्ञान प्रकाशित हो

दृष्टांत से समझें। इस शरीररूपी मशीन को चलाता तो ईंधन ही है, पर उसे कहाँ जाना है, यह चिंतन तो मस्तिष्क एवं शरीरधारी मनुष्य का इच्छातंत्र करता है। इस मशीन को चलाने वाला कितना समर्थ है, इसका उस ईंधन से कोई संबंध नहीं, जो ग्रहण किया जा रहा है— भोजन या प्राणवायु के रूप में। यदि मशीन चलाने वाला खुद ही होश में न हो, तो ईंधन से उत्पन्न शक्ति, उपकरण-काया को नष्ट ही कर देगी। यदि हमारे मन-बुद्धि जाग्रत्-सावधान हों, तो हमारी जीवनयात्रा सुखकर हो सकती है। जीवनीशक्ति हमारे अंदर सतत काम कर रही है, यह चेतना के स्तर पर आत्मसत्ता रूप में विद्यमान है। वह किसी से प्रभावित-अप्रभावित (बहिरंग क्रिया-कलापों से, अनगढ़ विचारों से) कभी नहीं होती। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही गलत है, भावनाएँ ही दूषित हैं, तो यह गड़बड़ी जीवात्मा के विनाश का कारण बनेगी। चूँकि ज्ञान अज्ञान से ढका है, वासनाओं ने उसे जकड़ रखा है, सत्य संबंधी जानकारी मनुष्य तक नहीं पहुँच पा रही है, मिथ्या धारणाएँ हमारे जीवन में घर कर लेती हैं। यह अज्ञानरूपी आवरण अपनी आत्मसत्ता को विकसित कर, त्रिगुणमयी (सत्, रज, तम से युक्त) प्रकृति से प्रभावित हुए बिना, हटाया जाना चाहिए। यही आत्मज्ञान की प्राप्ति का, जीवन साधना का एकमेव मार्ग है। जीवन भर जीव को इसी पुरुषार्थ में लगे रहना होता है। जो अज्ञानरूपी आवरण से जल्दी मुक्त हो मोह से मुक्त हो जाता है, वह मोक्ष में प्रतिष्ठित हो आनंदमय जीवन जीता है। कुंठाओं रहित जीवन, संत्रास-तनाव-विशुद्धता रहित जीवन जीने का एक ही मार्ग है कि अज्ञानरूपी आवरण जो ज्ञान पर ढका है, जिसमें मुग्ध हो जीव

गलत कामों में लगा है, किसी तरह हटे। चाहे वह साधना का मार्ग हो, गुरु के प्रति भक्ति व समर्पण हो, दिव्यकर्मी रूप में कर्मयोग का मार्ग हो, सभी उसके लिए खुले पड़े हैं। त्रिगुणातीत होते ही अज्ञान मिट जाता है, बादल हटने पर जाज्वल्यमान सूर्य की तरह ज्ञान उद्घाटित हो उठता है व जीव कह उठता है, सोऽहम्। मैं भी वही हूँ, जो यह परमात्मा है।

युग निर्माण योजना की प्रगति यात्रा

परम पूज्य गुरुदेव जीवन भर इसी पुरुषार्थ में निरत रहे। गायत्री-साधना उनसे जन-जन के लिए इसी अज्ञान के आवरण से मुक्त होने के लिए प्रतिबंधों से मुक्त कराई। स्वयं कठोर तप कर उस स्वरूप में पहुँच गए, जहाँ उत्कीलन-शाप विमोचन स्वयं गुरुसत्तारूपी अवतारी चेतना करती है। गायत्री त्रिपदा है; अज्ञान, अभाव, अशक्ति, इन तीनों को मिटाने की सामर्थ्य रखती है। चेतना तत्त्व की इकाई यही परम तत्त्व है। उपासना (भक्तियोग), साधना (ज्ञानयोग) एवं आराधना (कर्मयोग) द्वारा हमारी गुरुसत्ता ने जन-जन को अपनी ऋतंभरा-प्रज्ञा विकसित करने को प्रेरित किया। सभी की जीवनसाधना निखरी, दृष्टिकोण बदले, मुग्धता की स्थिति से निकलकर वे जंतु से दिव्यकर्मी बने एवं सद्बुद्धि का आश्रय ले वे आत्मिक प्रगति के पथ पर बढ़ते रहे। अपने आप का ज्ञान उन्हें स्वाध्याय से होने लगा। श्रेष्ठ विचारों में स्नान उनके स्वभाव को उच्चस्तरीय भाव में प्रतिष्ठित करता चला गया। जीवनोद्देश्य की जानकारी उस ध्यान से हुई, जिसमें उनसे जाना कि वे कौन हैं— एक सामान्य जीव नहीं—विशिष्ट प्रयोजन के लिए जन्मे प्रज्ञा परिजन, जिन्हें उलटे को उलटकर सीधा करना है, विचार क्रांति करनी है। अपने साथ औरों के चिंतन पर छाए कुहासे को भी मिटाना है। यही युग निर्माण योजना की प्रगति यात्रा है। गीताकार के संदेश को किस

कुशलता से इस युग के संस्कृति पुरुष ने—योगेश्वर स्तर की सत्ता ने सामान्यजन तक पहुँचाया है, इसे शांतिकुंज के प्रज्ञा अभियान को, युग निर्माण की प्रक्रिया को समीप से देखकर ही समझा जा सकता है। तब समझ में आएगा कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय का वास्तविक उद्देश्य क्या है? अज्ञान का आवरण आत्मसत्ता पर से उठाना—व्यक्ति को उसके यथार्थ सत्त्व का बोध करा देना। फिर गीता के संदेश पर आते हैं।

निर्लिप्त-निर्गुण स्थिति

निर्गुण-आत्मस्थिति में जैसे ही लौटकर जीव आत्मज्ञान को पुनः पाता है, वह प्रकृति के मुग्ध कर देने वाले लीलाजगत से, कर्मबंधनों से मुक्ति पा जाता है। तब प्रकृति के गुण उसे स्पर्श नहीं करते, वह अलिप्त बना रहता है। मन-प्राण-शरीर सभी रहते हैं, प्रकृति अपना काम करती रहती है, पर आंतरिक सत्ता निरपेक्ष ही बनी रहती है। “इस स्थिति को स जीव स्थिर, मुक्त, सर्वसाक्षी अक्षरब्रह्म हो जाता है,” ऐसा श्री अरविंद का मत है। वे कहते हैं कि वह पूर्णत्व नहीं है। आत्मा में तो मुक्ति है, पर प्रकृति में अपूर्णता है। इसके लिए कोई संन्यास की बात कह सकता है, पर गीता कर्म-संन्यास (सर्व कर्माणि संन्यस्य) की बात कहती है; क्योंकि उसमें ब्रह्म का आंतरिक अर्पण है। क्षर भाव में ब्रह्म प्रकृति के कर्म को पूरा-पूरा सहारा देता है, जबकि अक्षर भाव में ब्रह्म प्रकृति के कर्म को सहारा देते हुए भी अपने मुक्त स्वरूप को कायम (स्थिर) रखता है।

जब एक आदर्श दिव्यकर्मी अपने ज्ञान के सहारे कर्म करते हुए भी त्रिगुणातीत बन जाता है, तो वह श्रीकृष्ण के आदेश का पालन करता है, जिसमें भगवान् ने आदेश दिया था—“निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।” ऐसी स्थिति में वह भगवान् के प्रिय निर्देश ‘मन्मना, मच्चित्तः,

मद्भावम्' को प्राप्त हो जाता है। यही हम सबका भी लक्ष्य होना चाहिए। दिव्यजन्म की परमसिद्धि, किसी महामानव की लोक-यात्रा का चरमबिंदु यह रूपांतर ही होना चाहिए। श्री अरविंद कहते हैं कि यह संसिद्धि जब प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष अपने आप को प्रकृति के स्वामी के रूप में जानता है और भगवत् इच्छा का एक हिस्सा बनकर वह अपनी प्रकृति की क्रियाओं को दिव्यकर्म में रूपांतरित करने में लग जाता है। ऐसे ही व्यक्ति उच्चस्तरीय महापुरुष बनते हैं, अक्षय कीर्ति को प्राप्त होते एवं जन-जन का कल्याण करते हैं। युग उन्हीं को आज पुनः तलाश रहा है। अध्याय के पंद्रहवें श्लोक की व्याख्या हमें ऐसे ही चैतन्य जीवन्त दिव्यकर्मी की पहचान कराती है। युग परिवर्तन ऐसे ही महापुरुष करते हैं। सदा से ऐसा होता आया है व अब इस युग में भी ऐसा ही होने जा रहा है, यह सुनिश्चित माना जाना चाहिए।

सूर्यवत् प्रकाशित अंतरात्मा

ज्ञान प्राप्त हो गया, त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त हो गई, तो यह समझें कि काफी काम हो गया। ज्ञान तो था ही भीतर, मात्र भ्रांतियों का परदा उस पर पड़ा था, अतः वासना, तृष्णा, अहंता ही सब कुछ दिखाई देते थे, ज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता था। बिना किसी कामना के, कर्मफल की चिंता के जीवन जीने का तरीका ज्ञान पर छाए परदे का अनावरण ही है। तभी मनुष्य अंदर की शांति के साथ प्रसन्नतापूर्वक जीवन जी सकता है। इसीलिए वे अगले (सोलहवें) श्लोक में कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ५/१६

किंतु (तु) जिन लोगों का (येषां) वह (तत्) अज्ञान या मोह(अज्ञानं) आत्मा या ब्रह्म के (आत्मनः) तत्त्वज्ञान के द्वारा

(ज्ञानेन) नष्ट कर दिया गया है (नाशितं), उन लोगों का (तेषां) वह (तत्) ज्ञान (ज्ञानं) सूर्य की तरह अज्ञानांधकार को नष्ट कर देता है (आदित्यवत्), आत्मतत्त्व को—सच्चिदानंदघन परमात्मा को (परम्) प्रकाशित कर देता है (प्रकाशयति)।

कितना स्पष्ट व सही प्रतिपादन है। उपमा भी कितनी सुंदर है। भावातीत अक्षर परब्रह्म की सत्ता का अनुभव सर्वोच्च सत्य को प्रकाशित कर देता है। हमें वस्तुतः आत्मबोध करा देता है।



आदर्शनिष्ठ महामानव कैसे बनें ?

आदित्यवत् परं प्रकाशयति

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ५/१६

यह है वह श्लोक, जिसका अर्थ विगत अंक में दिया गया था। तदज्ञानं अर्थात् तत् अज्ञान—वह अज्ञान, माया का आवरण, जो वासना, तृष्णा, अहंता के रूप में सहज ही भटका देता है। हमारे अंदर के परमात्मा के वास्तविक स्वरूप तक, जो त्रिगुणातीत हैं, सत, रज, तम से भरी प्रकृति के दोषों से मुक्त हैं, जब तक ज्ञानरूपी आदित्य का प्रकाश नहीं पहुँचेगा, वे ज्ञान से प्रकाशित नहीं होंगे, तब तक आत्मबोध नहीं हो पाएगा— अपने आप के बारे में जानकारी नहीं मिलेगी। तत् परम् अर्थात् वह सच्चिदानंद विग्रह भगवद्सत्ता। ज्ञानी के लिए वे ब्रह्म हैं, तो कर्मयोगी के निकट परमात्मा उनका स्वरूप है। भक्त के लिए वे सत्, चित्, आनंद से भरी सत्ता के समान हैं। श्रीचरितामृत के अनुसार—

ज्ञान योग भक्ति तिन साधनार वशे ।

ब्रह्म आत्मा भगवान् त्रिविध प्रकाशे ॥

यही ब्रह्म की सगुण व निर्गुण व्याख्या है। यह जो सोलहवाँ श्लोक एवं उसके आगे वाला सत्रहवाँ श्लोक है, उसे यदि गूढ़ तत्त्वदर्शन के साथ भली भाँति समझ लिया गया, तो यह मान लेना चाहिए कि मनुष्य भवबंधनों से, चौरासी लाख योनियों के चक्र से मुक्त हो गया। फिर उसे पुनर्जन्म नहीं लेना होगा। वह इससे परे परब्रह्म में ही विलीन होकर तादात्म्य स्थापित कर लेगा। यही भाव इससे अगले श्लोक का है।

यहाँ भगवान् ने उपमा बड़ी सुंदर दी है। ज्ञान जब अवतरित होता है तो आदित्यवत् परं प्रकाशयति—सूर्य की तरह अज्ञानांधकार को नष्ट कर देता है और आत्मतत्त्व को प्रकाशित कर देता है। अपरोक्ष

अनुभव प्राप्त होते ही सर्वोच्च सत्ता की जानकारी हो जाती है; क्योंकि वह प्रकाशित रूप में सामने ही दिखाई देने लगती है। सूर्य का प्रकाश जैसे ही पूरब की उषा की लालिमा के समान दिखाई देने लगता है, अंधकार, जो अत्यधिक घना हो गया था, भागने को विवश हो जाता है। प्रकाश का अभाव ही तो अंधकार है। उसका स्वतंत्र कोई अस्तित्व थोड़े ही है। इसी तरह ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है, जिसमें व्याप्त होकर हम अविवेकी जीवन जीते हैं। वासनाओं से प्रेरित भोग प्रधान यह जीवन तृष्णा व अहंता के वशीभूत हो हमें दुष्कर्मों में प्रवृत्त कर देता है। परिणाम बड़े भयंकर होते हैं—संत्रास, कष्ट, तनाव, संक्षोभ, सभी प्रकार की आधि-व्याधियाँ। हम विधाता को दोष देते हैं, किंतु वे तो त्रिगुणातीत हैं। उनका जो अनंत आत्मा वाला स्वरूप हमारे अंदर है, उसकी मौजूदगी का ज्ञान यदि हमें हो, तो उस उपस्थिति के बोधभाव मात्र से हमारे इस भौतिक जीवन में प्राणों का संचार होने लगता है। अंधकार भागने लगता है। हम त्रितापों से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि सत्य क्या है? एवं परम सत्ता हमारे अंदर विराजमान है, यह जानकारी हमारी आत्मा को बलशाली बना देती है।

साधना द्वारा ही अज्ञान का नाश संभव

सबसे बड़ी बात यह है कि हमारा अहंभाव, जीवभाव समाप्त होना चाहिए। हमें शुद्ध अहं में—ब्रह्मभाव में प्रवेश करना चाहिए। यह सतत साधना से ही संभव है। चाहे कोई सा भी मार्ग हो, निरंतर की गई साधना, गहन आत्म-पर्यवेक्षण मनुष्य को उस आत्मतत्त्व का बोध करा ही देते हैं। 'आदित्य' की उपमा प्रभु ने दी है, तो यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि गायत्री-साधना भी आदित्य की—सूर्य की—सूर्य के 'भर्गतत्त्व' की साधना ही है। यदि सविता देवता का प्रकाश ज्ञानरूप में हमारे अंतरतम तक पहुँच जाए, उनका ब्रह्मवर्चस प्रधान भर्गतत्त्व अंदर

तक प्रविष्ट हो जाए, तो अज्ञान (पापनाशक तेज से)—माया के बंधन कटें एवं हम आत्मतत्त्व का बोध कर पाएँ, जो कि निरंतर अंदर प्रकाशमान है।

गायत्री-साधना हमें परमपूज्य गुरुदेव ने इस तत्त्व तक पहुँचाने के लिए ही कराई है; ताकि बाहर के सविता देवता का तेज, जो कि प्राणस्वरूप है, सुखस्वरूप है, दुःखनाशक है, श्रेष्ठतम है, तेजस्विता से अभिपूरित है, पापनाशक है एवं दिव्यता से ओत-प्रोत है, जैसे ही हमारे द्वारा, हमारी अंतरात्मा द्वारा सोख लिया जाता है (धीमहि), हमारी बुद्धि सही दिशा में, सन्मार्ग की ओर जबरदस्ती (बलात्) चलने लगती है; हम लोभ-मोह-अहं रूपी दुर्बुद्धि के मार्ग से हटकर आत्मतत्त्व को प्रकाशित कर सद्बुद्धि के मार्ग पर चल पड़ते हैं। आदिकाल से ऋषिगण, अवतारी सत्ताएँ, दिव्यकर्मी इसी महामंत्र का आश्रय लेकर ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों में से जो मार्ग उन्हें ठीक सूझा, उसका अवलंबन कर जगदीश्वर की वेदी पर स्वयं को समर्पित करते रहे हैं। एक ही कारगर तरीका है—सतत साधना, निरंतर एक ही प्रयास कि हम अज्ञान के बंधनों से मुक्त हों, चिन्मय परब्रह्म की सत्ता हमें अपने प्रकाश से पारदर्शी बना दे। हमारे अंदर का अँधियारा, मटमैलापन मिटता जाए एवं हमारी अंतरात्मा पूर्णतः ज्ञानरूपी सूर्य से प्रकाशित होती चली जाए।

सामान्य से ऊपर उठें, योगमय जीवन जिएँ

हम अपने भीतर के कर्ताभाव को सब कर्मों के अधीश्वर परमात्मा को समर्पित कर दें। मर्यादा का उल्लंघन करें, पापकर्म करें और दोष ईश्वर को दे दें, यह तो अज्ञान ही हुआ न! हमारे अंदर वह ज्ञान अवतरित हो, जो हमारे व्यक्तित्व की परतों को प्रकाशित कर जीवट प्रदान करे, मानसिक-बौद्धिक स्तर पर हमें सही निर्णय लेने की, विवेकशीलता के, दूरदर्शिता के पथ पर चलने की सद्बुद्धि मिले

एवं यही विवेक हमारी इंद्रियों का मार्गदर्शन करे, तो ही हम सामान्य जीवों से ऊपर उठकर कल्याणकारी दिव्यकर्मों का जीवन जी पाएँगे।

भगवान् का सारा प्रयास अर्जुन को सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर दिव्य स्तर पर लाने का है, जो कि हर मनुष्य का, यह मनुष्य-तन पाने का परमोद्देश्य भी है। अर्जुन अज्ञान-मोह में उलझकर सारे तर्क श्रीकृष्ण से कर रहा है, इसलिए वे उसे कर्मयोग का मर्म बताकर ज्ञान की उस सर्वोच्च स्थिति में ले जा रहे हैं, जहाँ अज्ञानजन्य भ्रांतियाँ सहज ही मिट जाती हैं। अज्ञान की दो स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ हमारे अंदर हैं— एक कर्ताभाव की, दूसरी भोक्ताभाव की। हमें इनसे ऊपर उठना है। वह प्रसन्नता का मार्ग है, ज्ञान की आनंदपूर्ण अवस्था का पथ है एवं आत्मपद की प्राप्ति करा देने वाला राजमार्ग है।

धर्ममय जीवन, योगमय जीवन हर श्वास में जिया जाना चाहिए। यह हर मनुष्य का कर्तव्य है। वह तभी संभव है, जब हम विषय-सुख की खोज में इधर-उधर इंद्रिय तुष्टि हेतु हाथ-पाँव मारकर जीवन को नष्ट करने से बचा लें। एक सुसंस्कृत मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह स्वार्थपूर्ण प्रयोजनों में लिप्त न हो, भौतिक पदार्थों की प्राप्ति व संग्रह हेतु पशु स्तर की प्रवृत्तियों में न लगे, वरन् जगदीश्वर की सेवा में लगे। अपना आपा ही सबमें समाया पड़ा है और एक ही दिव्यतत्त्व हम सबको प्रकाशित कर रहा है, यह बोध होते ही एक दिव्य शांति की अनुभूति सबको होती है। हम सही अर्थों में रचनात्मक, आध्यात्मिक जीवन जीने लगते हैं। परमार्थ में ही सच्चा स्वार्थ है, धर्ममय जीवन में ही सारे लौकिक कर्म भी निभते चले जाएँगे, यह परम समर्पण का भाव हमें सेवामय जीवन की ओर ले जाएगा। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करेगा और संकीर्ण स्वार्थपरता में हमें न उलझाकर हमारे भीतर के संगीत को बेसुरा नहीं बनाएगा।

श्रीमद्भगवद्गीता सही अर्थों में जीवन जीने की कला का शिक्षण देने वाली कुंजी है—एक पाठ्यपुस्तक है। आज के मनुष्य की, मानवजन्य सभी समस्याओं का समाधान उसमें है। यदि इस गीतामृत को हम जीवन में उतारने का प्रयास करें, तो हमारे अंदर पैदा हुआ जागरूकता का भाव हमें आध्यात्मिक उत्कर्ष की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा सकता है। इस तथ्य को भली भाँति समझकर अब हम अगले श्लोक की ओर बढ़ते हैं, जो हमें 'तत्' (तत्सवितुर्वरेण्यम् का तत्) के रूप में परमात्मा से एकाकार होने की परिणति बताता है। 'तत्'—परब्रह्म—सच्चिदानंदघन परमात्मा को ज्ञान द्वारा प्रकाशित कर लिया एवं उसके मर्म से परिचित हो गए, तो फिर देरी किस बात की! अब उससे एकरूप हुआ जाए—द्वैतभाव मिटाया जाए।

तत्परायण होने की दिशा में

सत्रहवाँ श्लोक है—

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ ५/१७

भावार्थ देखें—जिनकी बुद्धि उनमें लीन हो गई है, जिनका मन उनकी भक्ति से भर गया है और जिनकी उसी सच्चिदानंदघन परमात्मा में निष्ठा होकर जो निरंतर उन्हीं में एकीभाव से स्थित हैं, ऐसे मनुष्य, जिनके जीवन का सर्वस्व ही वह हो गया है, ज्ञान द्वारा पाप रहित होकर ऐसी स्थिति को प्राप्त होते हैं, जहाँ से लौटना पुनः नहीं होता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

छोटे-से श्लोक में गागर में सागर की तरह से कुछ मार्मिक सूत्र समाए हुए हैं। शब्दों के अर्थ से भाव जोड़ें तो वह ऐसा बनेगा—

तद्बुद्ध्यः (परब्रह्म में जिनका चित्त लीन है), तदात्मानः (ब्रह्म में एकात्मभाव से युक्त), तन्निष्ठाः (आत्मनिष्ठ), तत्परायणाः

(आत्मपरायण व्यक्ति, जो परब्रह्म से एकाकार हो गए हैं), ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (आत्मज्ञान के द्वारा पाप रहित हुए साधक), अपुनरावृत्तिम् (बार-बार जन्म की आवृत्ति नहीं), गच्छन्ति (ब्रह्मस्वरूप होकर जन्म-मृत्यु के प्रवाह से चिरमुक्त हो जाते हैं—परमगति को प्राप्त हो जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता) यहाँ बार-बार तत् शब्द आया है, उसकी बुद्धि, आत्मा, निष्ठा, अंतःकरण की मुक्ति बताई है। यह परोक्ष ज्ञान के अंतर्गत 'ब्रह्म'—परमात्मन् के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अहं ब्रह्मास्मि' हो जाने के बाद मनुष्य परमगति को प्राप्त हो जाता है। जैसे ही देहात्म-ज्ञान नष्ट हुआ ब्रह्म के साथ—परम सत्ता के साथ तादात्म्य हो जाता है। यह मोक्ष में प्रतिष्ठा है। यह आत्मा की पूर्णमदः पूर्णमिदम् वाली जीवनयज्ञ की पूर्णाहुति है।

परमात्मतत्त्व से मिलन का राजमार्ग

मानव हृदय में वह निर्झर फूट पड़े, ताकि वह परब्रह्म परमात्मन् की स्पष्ट अनुभूति कर सके, ऐसे प्रतिपादन पर श्रीकृष्ण अब आ गए हैं। यह गीताकार की अपरोक्षानुभूति से भरे इस ज्ञान की पराकाष्ठा है। एक प्रकार से वह राजमार्ग बताया जा रहा है, जिस पर चलकर जीव व ब्रह्म का मिलन होता है, मनुष्य का परमात्म सत्ता से साक्षात्कार होता है।

भगवान् की इस श्लोक के माध्यम से हर दिव्यकर्मों के लिए चार अनिवार्य शर्तें हैं, जिन्हें पूरा करके ही हम परम चैतन्य से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। इन्हें ऐसे भी कह सकते हैं कि चार प्रकार के परिवर्तन मनुष्य को अपनी आत्मसत्ता में लाने होंगे। तद्बुद्ध्यः, तदात्मानः, तन्निष्ठाः एवं तत्परायणाः। अब इन सबकी संक्षिप्त व्याख्या—

तद्बुद्ध्यः—बुद्धि तरह-तरह के खेल दिखाती है। तर्कशक्ति एवं जानकारीयों के संग्रह द्वारा मनुष्य बुद्धि की दृष्टि से कहीं-का-कहीं

पहुँच सकता है। शास्त्रों का अध्ययन जरूरी है, पर जब तक वह, 'तत्'—उस परमात्म तत्त्व से एकाकार होकर नहीं किया जाएगा, तब तक वह ज्ञान अहंकारी ही बनाएगा। तरह-तरह के शास्त्रार्थों में पटखनी देने में आनंद आता रहेगा। जो आदर्श हमारी समझ में आ गए हैं, हमारे बौद्धिक तंत्र ने जिन्हें स्वीकार कर लिया है, वे हमारे मन में उतरने चाहिए। हमारा मस्तिष्क-मन समुच्चय (माइंड-ब्रेन एनटाइटी) ही नहीं, हमारा कण-कण उस परमात्म तत्त्व की अनुभूति से स्पंदित हो उठना चाहिए। इसे कहते हैं—**तदबुद्ध्यः**।

तदात्मानः (जिसका मन उस परमात्मा की भक्ति से सराबोर है) का अर्थ है—जीवन के वे आदर्श, जो हमारी बुद्धि ने स्वीकार कर लिए हैं, अब हमारे द्वारा मनन किए जाने चाहिए। उच्चस्तरीय कार्यों के प्रति पूर्ण मनोयोग के साथ परम सत्ता से तादात्म्य स्थापित कर हम कार्य करेंगे, तो हमारी यह भक्ति—यह कर्मयोग हमें सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में स्थापित करेगा। यहाँ प्रसंगवश यह बता देना अनिवार्य है कि **तदबुद्ध्यः एवं तदात्मानः** की व्याख्या यहाँ कर्मयोग के परिप्रेक्ष्य में हो रही है। यही बात बारहवें अध्याय में, जो भक्तियोग की पराकाष्ठा पर हमें ले जाता है, भगवान् इस प्रकार कहते हैं—**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय** (श्लोक आठ)। जब यह कहते हैं, तो तत् शब्द को सीधे वे मयि एव मनः, मयि बुद्धिं के स्तर पर ले आते हैं। यहाँ मयि से तात्पर्य श्रीकृष्ण के मैं से नहीं, परमात्मसत्ता के विराट् 'मैं' से है। इस प्रसंग की चर्चा बाद में।

अगली स्थिति है **तन्निष्ठाः**—जिसमें निष्ठा मजबूत हो गई है एवं परमात्म तत्त्व में ही जो स्थित हैं। यह तीसरी अवस्था वह है, जिसमें व्यक्ति की बुद्धि एवं मन ने स्वीकार कर आदर्शों को-परमात्म तत्त्व को व्यवहार में लाना स्वीकार कर लिया है। परमात्मा आदर्शों-सत्प्रवृत्तियों-

श्रेष्ठताओं का समुच्चय ही तो है। उसमें हमारी निष्ठा इतनी मजबूत होनी चाहिए कि हमारे हर प्रयास उसी के अनुशासन में चलने चाहिए। आज आदर्शों की, उपदेशों की चर्चा तो है, पर आचरण में न उतरने के कारण व्यर्थ के वाक्-जाल बनकर रह जाते हैं, कहने वाले के जीवन में नहीं उतरे, तो सुनने वाले के जीवन में क्या उतरेंगे। हमारा आचरण परमात्म सत्ता के निर्देशों के अनुसार हो। हम प्रलोभनों से प्रभावित न हो असाधारण स्तर का त्याग दिखा सकें।

अब चौथी और अंतिम स्थिति आती है **तत्परायणाः**—वह परमात्म तत्त्व, आदर्शों का समूह हमारा सर्वस्व बन जाए, हम उसके साथ पूरी तरह घुल-मिल जाएँ। धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण शब्दों से समझा जा सकता है कि परायण होना अर्थात् वही सब कुछ बन जाना। उच्च सांस्कृतिक जीवन मूल्य ही फिर व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाते हैं। ऐसा व्यक्ति फिर अपने पुराने घिसे-पिटे ढर्रे पर नहीं लौटता, न ही मर्यादाओं का उल्लंघन करता है। आदर्शों के प्रति पूर्ण समर्पित जीवन उसे नया जीवन जीने, आदर्शों के हिमालय पर चढ़ने के लिए प्रेरित करता रहता है। परमात्मा उसके जर्रे-जर्रे से फूट पड़ता है। ऐसे आदर्शनिष्ठ महामानव को फिर अपने लक्ष्य तक पहुँचने से कोई रोक नहीं सकता। ये दृढ़निश्चयी व्यक्ति पूरे श्रद्धा और विश्वास से, उत्साह और उल्लास से युक्त होकर सफलता के उच्चतम सोपानों पर चढ़ते ही चले जाते हैं।



ब्रह्म में प्रतिष्ठित संवेदनशील दिव्यकर्मी

गच्छन्ति अपुनरावृत्तिम्

भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट कथन है कि ऐसे व्यक्ति जो भक्तिभाव से तद्रूप परमात्माभय हो जाते हैं, वे फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, सीधे मोक्षत्व धारण करते हैं। परमात्माभय होने की भी चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—तद्बुद्ध्यः, तदात्मानः, तन्निष्ठः, तत्परायणाः। उसी परमात्म-सत्ता में बुद्धि, आत्मा, निष्ठा लगा, उसको जीवन का सर्वस्व बना लेना। ऐसे साधक आत्मज्ञान के द्वारा पापरोहित (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) बन जाते हैं एवं इस संसार में पुनः बार-बार आगमन नहीं करते। यदि हम अपने अंदर इस प्रकार चार प्रकार के परिवर्तन ला सकें, तो हम भी अपने आपको महान साधकों की कड़ी में खड़ा पा सकते हैं। ‘गच्छन्ति अपुनरावृत्तिम्’ वापस न लौटने की स्थिति, पुनर्जन्म न होना। परमात्मा में ही विलीन हो जाना, ध्रुव की तरह, मीरा एवं प्रह्लाद की तरह हर साधक का जीवन लक्ष्य होना चाहिए; किंतु उसके लिए स्वयं को परमात्मा में लीन करना होगा। समस्त वासनाओं को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर वासनातीत अवस्था में जाना होगा। इस तरह का आत्मानुभव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण अनुभूति है। यह रूपांतर प्रकृति का चरम विकास और दिव्य जन्म की परम सिद्धि है। भगवद् इच्छा की ही एक इच्छा बनकर वैसा जीवन जीकर ऐसा साधक प्रकृति की क्रियाओं को दिव्यकर्म में रूपांतरित कर पाने में समर्थ हो जाता है।

इस तरह का आत्मानुभव एक बार कर लेने पर मनुष्य का संपूर्ण जीवन-दृष्टिकोण बदल जाता है। इसी आशय पर केंद्रित है अठारहवाँ श्लोक—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५/१८

विद्या-विनय से युक्त सत्त्वगुण संपन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में तथा कुत्ते और चांडाल में आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति समदर्शी होते हैं ।

ज्ञानीजनों की विद्या और विनयसंपन्न ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते और चांडाल में समदृष्टि होती है । सबके भीतर एक ही आत्मा क्रीड़ा-कल्लोल कर रहा है, यह अनुभूति कितनी दिव्य-विलक्षण है, यह इस श्लोक से हमें ज्ञात होती है । ऐसी अनुभूति करने वाले ही आत्मज्ञानी, ऋषि और संत सही अर्थों में पंडित होते हैं । यह मर्म है पूरे श्लोक का ।

आद्य शंकराचार्य को मिली दृष्टि

आद्य शंकराचार्य काशी में गंगास्नान कर बाहर निकल रहे थे । देखा, सामने चांडाल खड़ा है । उनसे कहा, ऐ चांडाल, दूर हट । मुझे निकल जाने दे । चांडाल ने पूछा, यदि मैं छू लूँगा, तो क्या हो जाएगा ? उनसे कहा कि फिर से नहाना पड़ेगा; क्योंकि तू चांडाल (श्वपाक) है । चांडाल बोला कि किसे छुएँगे ? चमड़ी को, चमड़े से बने शरीर को या आत्मा को । इतना सुनते ही शंकराचार्य को ज्ञान हो गया, आत्मबोध हो गया । उनके सामने चांडाल के स्थान पर स्वयं साक्षात् काशी विश्वनाथ खड़े थे । वे बोले, तू ज्ञानी होकर भी शरीर को देखता है, जो चमड़े से बना है । आत्मा का स्पर्श तो आत्मा ही कर सकता है और वह तो सतत निष्पाप है । इस स्पर्शभेद के आधार पर स्वयं को संन्यासी कहता है । आद्य शंकराचार्य ने त्रुटि समझी । क्षमा माँगी और स्वयं में समदर्शी भाव पैदा किया । जिस दिन यह भाव पैदा हो जाता है, उस समय छोटे-बड़े में, जाति-स्वरूप किसी भी रूप में ऊँचा-नीचा होने पर भी हर व्यक्ति एक समान दिखाई पड़ता है । सही अर्थों में समदर्शी ज्ञानी एक दिव्यकर्मी

शंकराचार्य के अंदर इसके बाद जाग्रत् हो गया, जब उनने इस भेद का मर्म जान लिया।

समदर्शी है नाम तिहारो

स्वामी विवेकानंद खेतड़ी के महाराजा अजीत सिंह के यहाँ सत्संग में भाग ले रहे थे। देखा, तुरंत नर्तकी वहाँ आ गई है। राजा बोले, अब आपके सामने भक्ति-संगीत ये प्रस्तुत करेंगी, तुरंत विवेकानंद बाहर निकलकर अपने कक्ष में चले गए। नर्तकी परेशान हो गई। मैंने ऐसा कौन-सा काम किया कि संन्यासी मुझे देख बाहर चले गए। उसने राजा से पूछा कि उससे क्या त्रुटि हो गई? महाराज बोले कि वे तुम्हें देखकर चले गए। तुम्हारा नृत्य समाप्त होने व तुम्हारे यहाँ से जाने के बाद वे पुनः आएँगे। तब उस नर्तकी ने दूसरा गीत गाया, “प्रभु मोरे अवगुन चित न धरौ, समदर्शी है नाम तिहारौ।” हे प्रभु, मेरे अवगुणों को भुला दें, मन में न रखें। आप तो समदर्शी हैं, सब आपके लिए समान हैं तो फिर यह भेद क्यों? मुझे देखकर आप उठ क्यों गए? मेरी आत्मा को क्यों नहीं देखा? उस गीत को सुनते-सुनते विवेकानंद लौटकर चले आए और प्रवेश करते ही बोले कि माँ, मैं तुझे प्रणाम करता हूँ। मुझसे दृष्टिभेद हो गया था, बहुत बड़ी गलती हो गई थी। मुझे क्षमा करें। आम लोगों की तरह मैं भी आपको वही वेश्या-नर्तकी-पददलित स्त्री मान बैठा, जबकि आपके अंदर एक दिव्य आत्मा है, उसे मैं न देख पाया। यह भेदबुद्धि मुझमें कहाँ से आ गई! इतना कहकर वे नर्तकी के चरणों पर गिर पड़े।

महापुरुष ‘पंडिता: समदर्शिनः’ ऐसे ही बनते हैं। यों ही जमाना उन्हें नमन नहीं करता, सब उनकी समदृष्टि को सराहते हैं। सब उनके अंदर के उस ज्ञान को सर्वोपरि मानते हैं। जो उनका परमात्मा से एकत्व भाव स्थापित कर देता है। जिस दिन आदमी चाहे वह कितना

ही बड़ा क्यों न हो, अपने अंदर भेदबुद्धि पैदा कर लेता है—यह अच्छूत है, यह छोटी जाति का है, यह पापी है, यह जीव-जगत् का एक प्राणिमात्र है, उस दिन उसके अंदर का ज्ञानी नष्ट हो जाता है। **समदर्शिनः** के भाव को पैदा करना, सभी जीवों में उस परमचेतना को संव्याप्त मानना (**सर्वभूतात्म-भूतात्मा-श्लोक-७, अध्याय ५**) सच्चे साधक का परम कर्तव्य है। स्वामी विवेकानंद ऐसा कर सके, क्योंकि वे संन्यासी के अतिरिक्त कर्म-संन्यास के सच्चे साधक थे। स्वयं का आत्मविश्लेषण साहसपूर्वक कर सकते थे। तभी तो एक नर्तकी से उनसे पैर छूकर क्षमा माँग ली। हम भी इस श्लोक से एक शिक्षण लें, स्वयं को पूर्ण बनाने की प्रक्रिया सीखें।

दिव्यकर्म बनने की अभीप्सा

भगवान् इसी कारण अर्जुन के समक्ष 'परफेक्शन' (पूर्णत्व) का एक आदर्श रख रहे हैं। सारी परिस्थितियाँ हमारे सामने रख रहे हैं, हमारे अंदर प्रबल अभीप्सा एक दिव्यकर्म बनने की पैदा कर रहे हैं। जिस प्रकार द्वितीय अध्याय में उनसे अर्जुन को स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए थे, उसी तरह यहाँ वे दिव्यकर्म के लक्षण अर्जुन सहित हम सबको बता रहे हैं। दिव्यकर्म बनने की अभीप्सा पैदा होगी, तो विघ्न स्वतः हटते चले जाएँगे।

अठारहवें श्लोक में कही गई बात की ही पुष्टि अगले उन्नीसवें श्लोक में है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ५/१९

जिन लोगों का (येषां) मन (मनः) समब्रह्म में (साम्ये) निश्चल रूप से प्रतिष्ठित है (स्थितं), इस लोक में शरीर में रहते हुए (इह एव) उनके द्वारा (तैः) यह दृश्य संसार (सर्गः) विजित है

(जितः), क्योंकि (हि) ब्रह्म सभी में समान रूप से (ब्रह्म समं) गुण-दोषरहित (निर्दोषं) है। इसी कारण (तस्मात्) समदर्शी लोग (ते) ब्रह्म में ही (ब्रह्मणि) ब्रह्मभाव से प्रतिष्ठित हैं (स्थितः)।

यह शब्दार्थ हुआ। यह एक प्रकार से ब्रह्मज्ञान की फलश्रुति बताई गई है। इस पूरे श्लोक का अब भाव समझें, जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानंदधन परमात्मा निर्दोष और सम है, इसी कारण वे परमात्मा में ही ब्रह्मभाव से स्थित हैं।

ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के बाद दिव्यकर्मी के लक्षण क्या होंगे? वे योगेश्वर बता रहे हैं। समभाव में स्थित होने के कारण दिव्यकर्मी यह सारा दृश्य संसार जीत लेते हैं। वे उसके राजा होते हैं। निर्दोष समरूप ब्रह्म में वे सदा प्रतिष्ठित रहते हैं। वे जीवन-मुक्त बन जाते हैं। जीवित अवस्था में ही लोभ, मोह, अहं रूपी भवबंधनों से मुक्त हो जाते हैं। फिर उन्हें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

समत्व का दिव्य संगीत

कितना विलक्षण-सुंदर विवेचन है—आत्मिक प्रगति की यात्रा का। साम्य बुद्धि वाले ब्रह्म में स्थित दिव्यकर्मी बनना हम सबका जीवन लक्ष्य होना चाहिए। साम्य बुद्धि वाला व्यक्ति ही समत्व का दिव्य संगीत सुन पाता है। चाहे मनुष्य रूप में श्रेष्ठ ब्राह्मण हो अथवा बुद्धिमान पशु (गौ एवं हाथी), जड़बुद्धि मनुष्य (श्वपाक, चांडाल) अथवा कुत्ते जैसा पशु, ज्ञानी इन सबमें एक जैसे ब्रह्म की ही सतत अनुभूति करता है। समदर्शी बन पाना एक दैवी विभूति प्राप्त करने के समान है। देवसंस्कृति हमें यही तो सिखाती है। परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी के जीवनभर किए गए ज्ञान-पुरुषार्थ का निचोड़ यही है कि हम समत्व दृष्टि विकसित करें। स्वयं उनसे अपने

जीवन में मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् (वासना एवं तृष्णा के समापन) के बाद आत्मवत् सर्वभूतेषु की साधना की थी। यह आत्मवत् सर्वभूतेषु ही समत्व दृष्टि है। इसके बिना तो सभ्य जीवन संभव नहीं है। सुसंस्कृत देवोपम जीवन जीना हो, तो यही समत्व का दृष्टिकोण जीवन में उतारना होगा, ऐसा परमपूज्य गुरुदेव का भी मत है।

आज सारे समाज में अहं की टकराहट है। सांप्रदायिक सद्भाव खतरे में है, पूरी राजनीति जातिवाद पर टिकी है, राष्ट्रीय स्तर पर व सीमा पर आतंकवाद तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्धोन्माद फैला पड़ा है। यह समदृष्टि के अभाव की ही फलश्रुति है। जाति-वर्ण के नाम पर पारस्परिक विद्वेष एवं झगड़े, परिवार संस्था में टूटन, पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में पारस्परिक भेद, मन-मुटाव व विक्षुब्धता चारों ओर संव्यास तनाव भी भेद-दर्शन का ही परिणाम है। यदि हम चारों ओर समत्व संव्यास देखें तो यह सारी समस्याएँ स्वतः ही मिटती चली जाएँ। अच्छा हो हम सामने वाले में अपने ही एक अथवा दूसरे पहलू का दर्शन करें, उसे मित्र मानें, उसकी कुटिलताओं के बावजूद उसकी आत्मा से प्रेम करें, तो उसके वे भाव भी स्वतः समाप्त होते चले जाएँगे। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि सही अर्थों में पंडित वे ही होते हैं जो ज्ञान-पढ़ाई-शिक्षा की दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से समदृष्टि संयुक्त हों, सर्वत्र एक ही आत्मा का अनुभव करते हों, आत्मज्ञानी हों, विराट् जिनका हृदय हो।

धरती के सम्राट समदर्शी

ऐसे समदर्शी व्यक्ति इस धरती के सम्राट् कहलाते हैं, वे ब्रह्मभाव से परमात्मा में स्थित होते हैं। इसी कारण वे भवबंधनों से मुक्त हो जाते हैं। अगला बीसवाँ श्लोक इस सत्य को आगे बढ़ाकर दिव्यकर्मी की विशेषताओं की परिधि और बड़ी कर देता है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५/२०

ब्रह्म में अवस्थित (ब्रह्मणि स्थितः), निश्चल स्थिर बुद्धि वाले (स्थिर बुद्धिः), संशयरहित दृष्टिकोण वाले (असम्मूढः), ब्रह्मज्ञ व्यक्ति (ब्रह्मविद्), प्रिय वस्तु मिलने पर भी (प्रियं प्राप्य) हर्षित नहीं होते (न प्रहृष्येत्) और अप्रिय वस्तु मिलने पर (अप्रियं च प्राप्य) दुखी भी नहीं होते (न उद्विजेत्)।

जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानंदधन परमात्मा में एकीभाव से स्थित है।

समापन पूर्व के श्लोक की ही तरह 'ब्रह्मणि स्थितः' में ही है। यह सारी विशेषताएँ दिव्यकर्मी की हैं, जो उसे देवमानवों की श्रेष्ठतम स्थिति में ला खड़ा करती हैं। इस श्लोक में ठीक स्थितप्रज्ञों की तरह दिव्यकर्मी का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण बताया गया है कि वह परमात्मा में स्थित होने के कारण तथा बिना किसी संशय की स्थिति में होने के कारण प्रिय वस्तु से न तो प्रसन्न ही होता है एवं न अप्रिय वस्तु या स्थिति को प्राप्त होकर दुःखी होता है। एकीभाव से, समभाव से सभी परिस्थितियों में बना रहता है।

संतप्त अर्जुन को दिशा-निर्देश

यहाँ सीधी चोट अर्जुन के विक्षुब्ध मन पर की गई है, जो युद्ध में लड़ने के नाम पर संतप्त है, क्षुब्ध है। एक बीमार मनःस्थिति वाला अर्जुन (श्रीकृष्ण की दृष्टि में) मनःचिकित्सा के योग्य है। अतः गीता के रचयिता काव्य सृजेता महाकवि श्री व्यास इस श्लोक द्वारा श्रीकृष्ण के श्रीमुख से वह कहलवाते हैं, जो इस समय के लिए सटीक है। यहाँ आत्मज्ञानी का चित्रण चल रहा है, पर साथ-ही-साथ उसके समत्वभाव

एवं कभी उद्विग्न न होने की विशेषताएँ भी बताई गई हैं। अर्जुन की दुर्बलता का श्रीकृष्ण को ज्ञान है। अतः यह चोट ठीक निशाने पर लगती है। वे उसे बताते हैं कि उनके इस प्रिय शिष्य को आत्मज्ञानी होना चाहिए। समत्व बुद्धि वाला तथा उसकी सबसे बड़ी विशेषता होनी चाहिए कि दुःख-सुख की पराकाष्ठा में भी वह तनिक भी विचलित न हो।

सामान्यतः होता यह है कि हम अपने आस-पास के अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओं के कारण जन्मी अपनी प्रतिक्रियाओं से दुःखी व सुखी होते रहते हैं। जो हमें हमारे स्वभाव और रुचि के अनुकूल हो, वह बात या वस्तु या घटना हमें प्रसन्नता देती है, परंतु जब हम अपनी रुचियों के विरुद्ध परिस्थितियाँ घटती देखते हैं, तो हमारे लिए वे दुःख का मूल बन जाती हैं। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि हमें आत्मज्ञानी 'ब्रह्मणि स्थितः' बनना चाहिए। ऐसा महापुरुष अपनी वासनाओं का क्षय कर चुका होता है। वह प्रतिक्रियारहित जीवन जीता है। उस पर घटनाक्रमों के उतार-चढ़ाव का कोई प्रभाव नहीं होता।

प्रतिक्रियाओं में खपता है जीवन

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार सिद्धपुरुष, श्रेष्ठ दिव्यकर्मी ही मात्र कर्म करता है। शेष हम सभी साधारण मानव तो जीवन भर प्रतिक्रियाएँ करते हैं, इसी में सारा जीवन खपा देते हैं। कर्म करने का, श्रेष्ठ गुणों के संपादन का हमें अवसर ही कहाँ मिल पाता है! हमारा जीवन ज्ञानी के समान प्रतिक्रियारहित होना चाहिए व हमें निष्काम कर्म करते हुए जीवन जीते रहना चाहिए। किसी को लग सकता है कि यह जीवन भी कोई जीवन है, जिसमें न दुःख है, न सुख है, न किसी भाव की अनुभूति है, कोई उतार-चढ़ाव नहीं। किसी को भी नीरसता से भरा जीवन लग सकता है। किसी को भी यह जीवित-मृत्यु की तरह

जीवन लग सकता है। क्या प्रतिक्रिया रहित जीवन ही है? कहीं यह पूर्ण जड़ता को जन्म तो नहीं देगा। ऐसा दिव्यकर्मी बनने से क्या लाभ, जहाँ सुख की अनुभूति भी न हो। इन सब शंकाओं का, जो अर्जुन के मन में उठ सकती हैं, श्रीकृष्ण अगले श्लोक में उत्तर देते हैं, जब वे उसे अक्षय आनंद की प्राप्ति, जो बहिरंग सुख से, परिस्थितिजन्य सुखों से भी बढ़कर बताते हैं। इसीलिए वह इक्कीसवें श्लोक में कह उठते हैं कि जिसका मन बाह्य विषयों में अनासक्त है, वह आत्मस्थित आनंद को प्राप्त करता है तथा जिसका मन ब्रह्म के साथ पूरी तरह तद्रूप हो गया है, वह अक्षय आनंद की प्राप्ति करता है, सदैव उसी में मग्न-प्रसन्न रहता है।



ज्ञानीजन क्षणिक सुखों में रमण नहीं करते

अक्षय सुख की प्राप्ति

श्री भगवान् का यह प्रतिपादन है कि आत्मज्ञान प्राप्त होते ही व्यक्ति व्यर्थ की मानसिक उलझनों से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति में दो विशेषताएँ विकसित होती हैं-१. समत्व भाव, सभी के प्रति एक जैसा भाव, सभी में उसी परमात्म-चेतना को संव्यास मानना तथा २. दुःख-सुख की पराकाष्ठा में तनिक भी विचलित न होना। ऐसा व्यक्ति जो जीवन जीता है, वह बिना किसी प्रतिक्रिया का होता है। अगला श्लोक दिव्यकर्मियों के लिए बड़े शुभ संकेत लेकर आता है। कर्म करते हुए बिना फल की आकांक्षा करते हुए जीवन जीते चलने के सत्परिणाम क्या होते हैं ? यह यहाँ इस अध्याय की पराकाष्ठा में स्पष्ट होने लगता है। श्लोक इस प्रकार है-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥५/२१

बाहरी विषयों के स्पर्श से (बाह्यस्पर्शेषु), अनासक्त चित्त (असक्तात्मा), ब्रह्म में ही स्थित, ब्रह्म में संलग्न (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) वह योगी (सः) आत्मा में (आत्मनि) जो नित्य सुख (यत् सुखं) पाता है (विन्दति), वह (सः) अक्षय (अक्षयं) सुख (सुखं) पाता है (विन्दति), वह (सः) अक्षय (अक्षयं) सुख (सुखं) के रूप में प्राप्त होता है (अश्नुते)॥

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अंतःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनंद है, उसको प्राप्त होता है। तदुपरांत वह सच्चिदानंदधन परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनंद की अनुभूति करता है। ५/

२१ और भी भाव रूप में देखें, तो भाव हुआ “बाह्य विषयों में अनासक्त चित्त ब्रह्म में संलग्न योगी आत्मा में जो नित्य सुख पाते हैं, वह अक्षय आनंदरूप है।”

यह जो अक्षय आनंद है, हर व्यक्ति का, साधक का इष्ट है, किंतु हर आदमी बहिरंग साधनों में इसे खोजता है, यही सबसे बड़ी विडंबना है। अतः सबसे पहले बहिरंग के प्रति अनासक्ति का भाव विकसित करना होगा, फिर स्वयं को ब्रह्म से हर पल जोड़े रहना होगा। तद्रूप बनना होगा, तब ही वह कभी समाप्त न होने वाला (अक्षय) आनंद प्राप्त होगा। इस श्लोक में एक शब्द आया है, ‘ब्रह्मयोगयुक्तात्मा’ जिसका मन पूर्णतः आत्मा में ही रमण करे। ऐसा साधक-दिव्यकर्मी भोगवादी जीवन अस्वीकार कर देता है; क्योंकि वही सब प्रकार के दुःखों का मूल है।

अनासक्ति एवं ब्रह्म में स्थिति

अतः आंतरिक उल्लास, जीवरूप में ब्रह्म का एक अंश होने का संतोष तथा कभी नष्ट न होने वाला आनंद पाना हो, शांति प्राप्त करनी हो, तो एक ही राजमार्ग पकड़ना होगा, बाहरी विषयों के स्पर्श से अनासक्ति। इसी का उत्तरार्द्ध है स्वयं को ब्रह्म में स्थित करना, ब्रह्मज्ञान लाभ प्राप्त कर उसी में निरंतर रमण करते रहना (ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति—श्लोक ३९, अध्याय ४) आत्मज्ञान को प्राप्त होते ही नित्य सुख की प्राप्ति, शांति व अक्षय आनंद सुनिश्चित उपलब्धियों के रूप में हस्तगत हो जाते हैं। यह अंदर का आनंद, इसकी अनुभूति ही सिद्ध साधन को बहिरंग भौतिकवादी जीवन की उपेक्षा कर उससे ऊपर उठ अध्यात्मवादी जीवन जीने की प्रेरणा देती है। फिर ऐसा व्यक्ति बहिरंग संसार की क्रियाओं के प्रति अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। निंदा से अप्रसन्न नहीं होता एवं यशप्राप्ति से, सम्मान से

अति हर्षित नहीं होता। अपना समस्वरता वाला स्वरूप बनाए रखता है। फिर वही ऐसा एकमात्र दिव्यकर्मी बन जाता है, जो संसार में श्रेष्ठतम कर्म करता चलता है एवं दिव्य शांति को प्राप्त होता है।

परमहंसदेव ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने कहा है “सच्चे संन्यासी वही हैं, जिनके मन, प्राण, आत्मा सभी परमात्मा में लीन हो गए हैं। जो कामिनी-कंचन का त्यागी है, वही साधु कहने योग्य है। साधु सदा ईश्वर की चिंता करते हैं। ईश्वर संबंधी बातों के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं करते और सर्वभूतों में ईश्वर संव्यास है, यह मानकर उनकी सेवा करते हैं।” हम लोग ‘ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या’ कहते रहते हैं, पर क्या उसे समझ पाते हैं? लोगों ने समझा कि जगत् बेकार है, इसे किसी भी हालत में नहीं देखना चाहिए। ब्रह्म ही सत्य है, यही मानना चाहिए; परंतु आद्यशंकर ने जब इसकी व्याख्या की, तो यह उनका आशय नहीं था। उनका कथन था कि जगत् के रूप में भोग करते हुए, साधन-सामग्री के रूप में जगत् को पाकर फूले न समाना गलत है। साधन न मिलने पर दुःखी हो जाना गलत है। यह एक प्रकार से मिथ्या आचरण है। यदि हम जगत् के सही स्वरूप को समझ सकें, तो कभी भी दुःखी नहीं होंगे।

भर्तृहरि के तीन शतक

भर्तृहरि ने तीन शतक लिखे हैं। नीतिशतक, शृंगारशतक और वैराग्यशतक। पहला शतक उनने तब लिखा, जब उनके पिता ने राज्य खो दिया। उस राज्य को कैसे पाया जाए, हूणों से उसे छुड़ाया कैसे जाए और जीतने के लिए कौन-सी नीति अपनाई जाए, यह बना नीतिशतक। रानी पिंगला के प्रेम में डूबे रसिक भर्तृहरि ने लिखा शृंगारशतक। तीसरा तब लिखा जब उनने पिंगला का वास्तविक रूप देखा व उन्हें जीवन से वैराग्य हो गया। शृंगार से वैराग्य का जन्म हुआ। उनने लिखा-

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयम्

रूपे जराया भयं, वैराग्यमेवाभयम् ॥

यह श्लोक जीवन जीने की कला का सूत्र देता है। रोग भोगने से व कुलीन जाति से नीचे गिरने पर भय पैदा होता है। रूपवान हैं, तो बुढ़ापे का डर है। वैराग्य है, तो किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। वैराग्य आ गया तो अभय आ जाता है। यहाँ जीवन का निष्कर्ष निकल आता है। इसीलिए भगवान् बार-बार कह रहे हैं कि सांसारिक स्पर्श सुखजन्य भोगों से ऊपर उठकर कर्मयोग में निरत होने में ही भलाई है।

ब्रह्मयोग युक्तात्मा

योगेश्वर श्रीकृष्ण 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः' (श्लोक २०) से आगे चलकर यहाँ 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' की चर्चा करते हैं और फिर यहाँ से चलकर आगे के नौ श्लोकों में ब्रह्मनिर्वाण और उससे प्राप्त होने वाली शांति की चर्चा (शान्ति निर्वाणपरमां) करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा ही व्यक्ति अक्षय सुख का भोग कर सकता है, जिसकी आत्मा ब्रह्म के साथ योग द्वारा युक्त है। जो अनासक्ति योग को जीवन में, प्रतिपल आचरण में उतारता हो। अनासक्त होना अत्यधिक आवश्यक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह से छुटकारा मिले बिना सच्चा सुख मिल पाना संभव नहीं है। यह सुख और जीवन का समत्व (संतुलित व्यवस्थित जीवन-समत्वं योग उच्चते, इक्कीलिब्रियम इज योगा) मनुष्य को यदि पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) को प्राप्त नहीं होना है, तो इसी जीवन में, इसी काया में रहते हुए प्राप्त करने होंगे। यह मूढ़ मान्यता है, एक प्रकार की भ्रांति है कि पूर्ण मुक्ति शरीर छोड़ने के बाद (काशीय करवट या अन्य) प्राप्त होती है। श्री अरविन्द इसे 'निम्न विक्षुब्ध प्रकृति का दासत्व' कहते हैं। पूर्ण आध्यात्मिक स्वतंत्रता का लाभ और उपभोग गीता का योग जीवन में

उतारने पर इसी जगत् में, इसी मानव जीवन में, इसी देह के रहते संभव है।

आत्मानंद, निर्वाण के सुख की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए योगेश्वर एक प्रकार से गर्जना करते हुए अपने अगले श्लोक में यह उद्घोष कर देते हैं कि इन्द्रिय सुखों का भोग दुःख लाता है एवं यदि मनुष्य बुद्धिमान है, प्रज्ञावान है (बुधः), आत्मबोध को प्राप्त है, तो वह उनमें लिस नहीं होगा।

अगला बाईसवाँ श्लोक कहता है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ —५/२२

हे अर्जुन! (कौन्तेय), इंद्रियों के साथ विषयों के संयोग से उत्पन्न (संस्पर्शजा) जो भोग-सुख हैं (ये भोगाः) वह सब (ते) दुःख के ही कारण हैं (दुःखयो नय एव) और उत्पत्ति विनाशशील अर्थात् एकदम अनित्य हैं (आद्यन्तवन्तः)। (इसलिए) उन क्षणिक विषयानंदों में (तेषु) ज्ञानी व्यक्ति (बुधः) आकर्षित नहीं होते, उस ओर विचलित नहीं होते (न रमते)।

भावार्थ हुआ—हे कुंतीपुत्र! जो ये इंद्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप में प्रतीत होते हैं, तो भी ये दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अंत वाले अनित्य हैं, इसलिए बुद्धिमान विवेकी ज्ञानी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।

विषय सुख-दुःख के हेतु

कितनी बड़ी भ्रांति है कि इंद्रियजन्य भोगों, विषयसुखों को ही मनुष्य सब कुछ मान बैठता है। कुत्ता अपनी प्रिय वस्तु हड्डी चबाता रहता है। उसे और तो कुछ नहीं मिलता। अपने ही दाँतों-मसूढ़ों से आने वाले रक्त का वह स्वाद लेता रहता है, यह मान लेता है कि इसी से आ

रहा है। स्वयं को जख्मी और कर लेता है। क्या मनुष्य की स्थिति भी ऐसी नहीं है। भोगवादी, उपभोक्ताप्रधान जीवनशैली आज के युग में बहुसंख्य व्यक्ति इसी सुख को, जो उन्हें इंद्रिय-विषयों के संयोग से प्राप्त होता है, सभी कुछ, आराध्य, इष्ट मान बैठते हैं। अपनी शक्ति गँवाते हैं, क्षणिक आनंद की तलाश में अपना सब कुछ खो बैठते हैं। फिर भी यह नहीं समझ पाते कि ये सभी सुख अनित्य हैं, क्षणिक हैं। इसीलिए उनकी गिनती अज्ञानियों में की जाती है। परमपूज्य गुरुदेव उनकी गिनती नरकीटक, नरपशुओं में करते हैं, जो मात्र शिश्रोदरपरायण (पेट-प्रजनन का) जीवन जीते हैं।

न तेषु रमते बुधः

देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, प्यार करना, सोचना (कपोल-कल्पनाएँ करते रहना) ये सब-के-सब हमारी ज्ञानेंद्रियों-कर्मेंद्रियों के नित्य व्यापारों की श्रेणी में आते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक उपाधियों के अपने-अपने विषयों के साथ संपर्क के ये परिणाम हैं। विषय, भावनाओं और विचारों का यह संसार निरंतर परिवर्तित होता रहता है। प्रत्येक का आदि भी है, अंत भी। इसीलिए इनसे प्राप्त सुख या आनंद क्षणभंगुर हैं। इन अनित्य नाशवान क्षणिक सुखों में बुद्धिमान मनुष्य, ज्ञानीजन नहीं उलझते (न तेषु रमते बुधः)।

ज्ञानी उसे कहते हैं, जो एक निराले ही संसार में रहता है। वहाँ उसे अखंड आनंद, शांति और प्रसन्नता की सतत अनुभूति होती रहती है। वह स्वतंत्र होकर कर्म करता रहता है। हम लोग प्रतिक्रियाओं से अलग नहीं रह पाते, लेकिन वह उनसे परे चलता है; क्योंकि उसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है। हम वासनाओं के दास हैं, वह उनसे मुक्त है। यदि हम भी उसके समान बनना चाहते हैं तो हमें अपने स्व का विस्तार कर, अहंता, वासना, तृष्णा के भवबंधनों से पार चलना सीखना होगा।

युवाशक्ति का योगपथ हेतु आह्वान

इक्कीसवीं सदी में जी रहे हर युवक का श्रीकृष्ण इन पंक्तियों के माध्यम से आमंत्रण करते हैं। क्या आज का आधुनिक युवक उपभोक्तावादी सभ्यता के आकर्षण से ऊपर उठकर एक महान यात्रा पर चल पड़ने के लिए तैयार है? क्या उसके अंदर इतना साहस है? क्या उसे अपने शक्तिस्त्रोत की जानकारी है? किशोरावस्था से गुजरकर युवा बनने की दिशा में अग्रसर जीव एक संधिवेला से गुजरता है, जहाँ इन आकर्षणों की दुनिया का उसे भी आमंत्रण मिलता है। धन और सुरा का, आधुनिक भोग की सामग्रियों का आकर्षण, चमचमाती कारें, वासनात्मक आकर्षण, रातोंरात करोड़पति बनने की ललक, चकाचौंध करने वाली लाइट्स, सत्ता का, लालबत्ती-नीलीबत्ती का प्रलोभन, भ्रष्टाचार की कमाई से प्राप्त होने वाला सुख, यह सभी एक विराट् जंगल के समान हैं, जिनमें से हर युवा को गुजरना होता है। एक पवित्र दिव्य यात्रा के लिए कुछ सोचने का समय उसके पास है क्या? यह प्रश्न आज की जवानी, कल के नागरिकों के समक्ष है। जो अपना जीवन भोग में खपा चुके, जो उत्तरार्द्ध किसी तरह समय काटकर जी रहे हैं, उनसे तो इतनी ही अपेक्षा की जा सकती है कि वे यथाशीघ्र ज्ञान के मार्ग पर लौटें। वासनात्मक, तृष्णाप्रधान जीवन से जीर्ण-शीर्ण इन लोगों से कुछ और अपेक्षा भी नहीं की जा सकती; परंतु योगेश्वर श्रीकृष्ण युवा अर्जुन से, परमपूज्य गुरुदेव हर उस युवा चिंतन वाले, अभीप्सा रखने वाले अध्यात्म मार्ग के पथिक से अपेक्षा रखते हैं कि क्या वह यह पथ अपनाने का साहस करेगा? अध्यात्म को क्षुरस्य धारा पंथ (छुरे की धार पर चलने वाला मार्ग) कहा गया है। यदि कुछ मुट्ठी भर व्यक्ति भी इस मार्ग पर चलने का साहस करते हैं, तो उन्हें आगे आकर भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन करना चाहिए, स्वयं को बुधः फिर लोकनायक की श्रेणी

में बिठाना चाहिए। तभी हम इक्कीसवीं सदी में उज्ज्वल भविष्य एवं भारत को विश्व का जगत् गुरु, महानायक बनने की अपेक्षा रख सकते हैं।

यो वै भूमा तत्सुखम्

हमारे उपनिषद् भी श्री गीता जी के इस बाईसवें श्लोक की हर बात का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। छांदोग्योपनिषद् लिखता है, 'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति' अर्थात् छोटी वस्तुओं में सुख नहीं है। सुखस्वरूप तो भूमा है अर्थात् सर्वत्र संव्याप्त आत्मा। इसी में, सर्वहितार्थाय ही जीकर हमें सुख प्राप्त करना चाहिए। आगे उपनिषद् और लिखता है, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् बिभेति कदाचन' अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानकर योगीगण निर्भय हो जाते हैं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं, "जब ईश्वर दर्शन होने लगता है, तो रमण सुख अर्थात् विषयानन्द से कोटि गुना अधिक आनन्द मिलता है। आत्मा से ब्रह्म की अभिन्न रूप से अपरोक्ष अनुभूति होने पर निर्विकल्प समाधि में जिस प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है, उसका कुछ आभास मात्र ही विषयजन्य सुख में मिलता है, जो कि बाद में दुःख-ही-दुःख छोड़ जाता है।"

चिरस्थायी ब्रह्मानन्द पाएँ

एक अति कामुक भी ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने पर कैसे विषयों से दूर हो सकता है, इसका एक उदाहरण श्रीरंगम् (दक्षिण भारत) के एक डाकू के जीवन से मिलता है। रामानुजाचार्य के समय की यह घटना है। इस डाकू का आकर्षण एक वेश्या के प्रति हो गया। वह उस अति सुंदर स्त्री के पीछे छाता लेकर चलता। कहीं शरीर धूप में काला न पड़ जाए। सभी उसकी इस प्रवृत्ति को देखकर हँसते, पर उसके क्रूर स्वभाव के कारण कुछ कह न पाते। संयोग से रामानुज उँधर

से गुजरे; श्रीरंगम् के दर्शन हेतु जा रहे थे। शिष्यों के द्वारा उक्त विवरण सुनकर बोले, “भाई, ऐसा नाटक क्यों करते हो? क्यों इस महिला के पीछे दौड़ते हो?” वह बोला, “बड़ी सुंदर है। मन को अच्छी लगती है।” संतश्री बोले, “यही आनंद तुम्हें और भी ज्यादा अधिक समय तक मिलने लगे, तो क्या इसे छोड़ दोगे?” हाँ में उत्तर सुनकर योगबल से उनने उस डाकू को श्रीकृष्ण की सुंदर झाँकी का दर्शन कराया। दोनों ने ये दर्शन किए। जो आनंद प्राप्त हुआ, वह सहस्रों गुना अधिक था। संतश्री ने आशीर्वाद दिया कि अब इस स्त्री को अपनी पत्नी बना लो और दोनों इसी झाँकी का आनंद लेकर जनसेवा में लग जाओ। ऐसा ही हुआ। श्री रामानुजाचार्य जब स्नान हेतु जाते, तो संन्यासियों के कंधों पर हाथ रखकर, किंतु लौटते तो उस डाकू के कंधे पर हाथ रखकर। कहते ब्रह्मानंद की एक झलक पाकर शुद्ध हो गया है, अंदर से पवित्र हो गया है। यह घटना उस क्षेत्र में बड़ी प्रख्यात हुई। इसी प्रकार तुलसीदास के मित्र नाभादास भी एक महिला के प्रेम में विक्षिप्त समान थे। श्री वल्लभाचार्य ने प्रेरणा दी, ब्रह्मानंद की अनुभूति कराई, उसके बाद उनके जीवन की दिशा ही बदल गई।

हमें भी प्रेरणा लेनी होगी कि हम अज्ञान से ज्ञान की ओर यात्रा करें। क्षणिक आनंद हेतु नहीं, चिरस्थायी आनंद, ब्रह्मानंद हेतु प्रयास करें। हम ‘बुधः’ आत्मबोध को प्राप्त ज्ञानी बनें। यह ध्यान रखें कि पंडितजन, ज्ञानी, विवेकवान व्यक्ति अनित्य दुःखों के हेतु, विषयभोगों के चक्कर में न पड़कर ब्रह्मयोग मुक्तात्मा ही बनते हैं एवं ब्रह्मानंद की प्राप्ति करते हैं।



स युक्तः स सुखी नरः

श्री गीताजी का पाँचवें अध्याय का तेईसवाँ श्लोक कहता है—
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ ५/२३

इस श्लोक का शब्दशः संधि विग्रहानुसार अर्थ हुआ—

जो ज्ञानी पुरुष (यः) देहत्याग के पूर्व अर्थात् देह रहते समय (शरीरविमोक्षणात् प्राक्) इस संसार या शरीर में ही (इह एव) काम और क्रोध के वेग को (कामक्रोधोद्भवं वेगं) सहन करने में (सोढुं) समर्थ होते हैं (शक्नोति), वे (सः) समाहित चित्त वाले योगी हैं। (युक्तः) एवं वही व्यक्ति सुखी हैं (स नरः सुखी)।

भावार्थ करें, तो ऐसा बनता है—“जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले ही काम, क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ है, वही पुरुष योगी है (सर्वाङ्गपूर्ण व्यक्तित्व संपन्न है) तथा वही सुखी नर है।”(५/२३)

ढेरों व्यक्तियों को यह भ्रांति है कि मोक्ष मृत्यु के बाद मिलता है। इस जीवन में ही, इस शरीर के रहते ही यदि व्यक्ति काम और क्रोध के वेग को सहन करना सीख ले, स्वयं को साध ले, वही अपना व्यक्तित्व समग्र बना पाता है एवं जीवित रहते हुए मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। वही व्यक्ति सच्चे अर्थों में सुखी मनुष्य बन पाता है और जीवन का आनंद ले पाता है। जिसे आत्मज्ञान हो गया, वह सर्वव्यापी चैतन्य के वास्तविक स्वरूप के अनंत आनंद का अनुभव ले पाता है।

एक मनोवैज्ञानिक की तरह यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन से वार्तालाप कर रहे हैं। वे मानवीय व्यक्तित्व का विश्लेषण कर रहे हैं एवं उसके

साथ-साथ हमारी भी कई शंकाओं का समाधान कर रहे हैं। व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण परिष्कार हर किसी का लक्ष्य होता है। वस्तुतः सारी सिद्धियाँ परिष्कृत व्यक्तित्व के ही चारों ओर चक्कर लगाती हैं। सच्चा सुख भी तभी मिलता है। श्रीकृष्ण इसीलिए कहते हैं कि मृत्यु आए, उससे पूर्व ही काम और क्रोध पर व्यक्ति नियंत्रण प्राप्त कर ले। कामबीज को ज्ञानबीज में बदल डाले। क्रोध और कुछ नहीं, दमित कामवासना का ही एक लक्षण है। दोनों ही साथ चलते हैं। वे कामवासना के परिष्कार की बात कह रहे हैं और बड़ा जोर देकर कहते हैं कि यदि मृत्यु से पूर्व इन पर नियंत्रण नहीं प्राप्त हुआ, तो ये ही वासनाएँ मृत्यु के बाद आत्मसत्ता के साथ विभिन्न योनियों में चक्कर लगावाएँगी। ज्ञानी वही है, सच्चा सुखी वही है, जो इस जन्म में ही सारी व्यवस्था कर ले। आज व्यक्ति यदि बहिर्मुखी है, तो उसका कारण भी भीतर के काम और क्रोध ही हैं। एक वेग की तरह, आवेश की तरह वे मस्तिष्क पर चढ़ बैठते हैं। इन पर एक सच्चा योगी ही विजय प्राप्त कर पाता है और अपने व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बना पाता है। वही व्यक्ति पूर्ण पुरुष (स युक्तः) बन पाता है। जो व्यक्ति अपने आपको पूर्णतः अनुशासित कर ले, श्रीकृष्ण के अनुसार वही पूर्णतः सुखी नर है। (स युक्तः स सुखी नरः)।

ठाकुर की कुछ ठोस बातें

रामकृष्ण परमहंस कहते थे, “देखता हूँ कि सब-के-सब मटर की दाल के ग्राहक हैं। कामिनी और कांचन छोड़ना ही नहीं चाहते। आदमी स्त्रियों के रूप पर मुग्ध हो जाते हैं। रुपये और ऐश्वर्य का लालच करते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि ईश्वर का रूपदर्शन करने पर ब्रह्मपद भी तुच्छ हो जाता है। रावण से किसी ने कहा था, तुम इतने रूप बदलकर तो सीता के पास जाते हो; परंतु श्रीराम का रूप क्यों नहीं

धारण करते? रावण ने कहा, राम का रूप हृदय में एक बार भी देख लेने पर रंभा और तिलोत्तमा चिता की खाक जान पड़ती हैं। ब्रह्मपद भी तुच्छ हो जाता है, पराई स्त्री की बात ही दूर रही।” (रामकृष्ण वचनमृत भाग-तृतीय, ३६-३७)। स्थान-स्थान पर वे कहते हैं, “योग कैसे होता है? विषयों के प्रति आसक्ति का एकदम त्याग। किसी भी प्रकार की कामना-वासना नहीं रहनी चाहिए। कामना-वासना रहने पर उसे सकाम भक्ति कहते हैं, निष्काम भक्ति को अहेतुकी भक्ति कहते हैं। तुम प्यार करो, न करो, फिर भी मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। इसी का नाम है अहेतुक प्रेम”.....“पति पर सती का आकर्षण, संतान पर माँ का आकर्षण और विषयप्रिय व्यक्ति का सांसारिक विषयों के प्रति आकर्षण, ये तीन आकर्षण यदि एक ही साथ हों, तो ईश्वर का दर्शन होता है।” (रामकृष्ण वचनमृत भाग-द्वितीय, पृष्ठ-४)। कितना अद्भुत प्रतिपादन है ठाकुर का। सारी बात अंदर तक उतर जाती है।

काम और कामजनित क्रोध

वास्तव में काम और काम से पैदा हुआ क्रोध, यही दो प्रवृत्तियाँ हैं, जो हमारी अंदर की शांति को भंग करती हैं और एक प्रकार से झूठी तृप्ति की निरर्थक आशा में हमें बहिर्मुखी बनाकर विषयों और कुविचारों के संसार में ढकैल देती हैं। क्रोध मात्र उस कामना का स्वरूप है, जो सहज रूप में तृप्त नहीं हो पाई है। इन दो विकृतियों से उपजा इच्छाओं का उद्वेग हमारे व्यक्तित्व को क्षत-विक्षत कर उसका स्वरूप बिगाड़ देता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि मृत्यु से पूर्व इन पर विजय प्राप्त करो, वरना सुख की चाह में अनंतकाल तक भटकते फिरोगे। आज चारों ओर जो वातावरण है, जिस तरह का उपभोक्तावादी समाज विकसित हो गया है, केबल-टेलीविजन के माध्यम से घर-घर में सांस्कृतिक प्रदूषण फैलाया जा रहा है तथा प्रिंटमीडिया भी नंगई को परोसने में पीछे नहीं है, उसमें कामुकता ही संव्यास दिखाई देती है।

अपरिपक्व मन को, बहिर्मुखी मन को वह तुरंत प्रभावित करती है। कामेच्छा पूरी न होने पर क्रोध भड़क उठता है; बलात्कार-उसी वृत्ति से जन्मते हैं। सारे समाज का उत्कर्ष करना है, तो हमें इन वृत्तियों के परिष्कार का तंत्र खड़ा करना होगा। जनचेतना जगानी होगी। आत्मनिरीक्षण एवं विचार संयम की एक हवा बनानी होगी। लोक-शिक्षण करना होगा, ताकि हम बर्बर समाज की ओर न जाकर सही विकसित, आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कर्ष को प्राप्त समाज बना सकें।

कामबीज से ज्ञानबीज की ओर

परमपूज्य गुरुदेव 'आध्यात्मिक काम विज्ञान' नामक पुस्तक में लिखते हैं, "कामवासना मनुष्य जीवन की एक अति प्रबल प्रवृत्ति है। उसकी हलचल मस्तिष्क को उद्वेलित करती ही रहती है। फलतः व्यक्ति उस संबंध में कुछ-न-कुछ कहने-सुनने, पूछने-बताने, पढ़ने-जानने के लिए भी खोज-बीन करता रहता है। उच्चस्तरीय जानकारी न होने से उसे घटिया, विकृत और अवांछनीय सामग्री हाथ लगती है, जिससे आत्मघात करने का पथ ही प्रशस्त होता है।" (पृष्ठ २०) आगे वे लिखते हैं, "काम का अर्थ विनोद, उल्लास और आनंद है। मैथुन को ही काम नहीं कहते। स्नेह, सद्भाव, विनोद, उल्लास की उच्चस्तरीय अभिव्यक्तियाँ जिस परिधि में आती हैं, उसे आध्यात्मिक काम कहते हैं। यह छोटे बालकों से लेकर वृद्धों तक, नारी और नर तक एक समान प्रयुक्त होता है।" (पृष्ठ ३५) परमपूज्य गुरुदेव यह अभिमत देते हैं कि काम-प्रवृत्तियों का नियंत्रण परिष्कृत अंतःचेतना से संभव है। काम पर नियंत्रण हो गया, तो क्रोध स्वतः जाता रहेगा। वे बताते हैं कि उत्तेजनात्मक चिंतन से जो मस्तिष्कीय विद्युत् प्रवाह उमड़ते हैं, वे ही यौनलिप्सा में मनुष्य को बलात् प्रवृत्त करते हैं। यह विद्युत् धारा घटाई भी जा सकती है और बढ़ाकर सुनियोजित भी की जा सकती है। इसके लिए अंतःचेतना का बलिष्ठ होना अत्यंत आवश्यक है, जो योगाभ्यास जैसे उपायों से ही

संभव है। कामकला को ब्रह्मविद्या के रूप में परिवर्तित कर, रूपांतरण कर उसके वेग पर नियंत्रण संभव है। पूज्यवर के चिंतन के अनुसार अभ्यास और वैराग्य से अनियंत्रित कामप्रवृत्ति का निरोध संभव है। उसे हठपूर्वक नष्ट कर देने की बात न सोची जाए; वरन् ऐसे प्रयोजन में लगा दिया जाए, जिसमें उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति हो।

जहाँ तक क्रोध का प्रश्न है, वह समाज में आज अचेतन में संव्यास तनाव के कारण भी फैला है। अपनी वृत्तियों का प्रबंधन कर पाना, अपनी क्षमताओं का पूरा नियोजन न हो पाना तथा भौतिकता प्रधान इस युग में अस्त-व्यस्तताओं का बढ़ते चले जाना ही क्रोध का कारण है। मनुष्य की सहिष्णुता घटी है एवं आक्रामकता बढ़ी है। इस पर नियंत्रण उसे ही प्राप्त करना होगा। विशेषकर युवाशक्ति, नवविवाहित युवा दंपतियों के जीवन में यह क्रोध तो विष बनकर आता है और उनकी सभी क्षमताओं को नष्ट कर जाता है। उद्धत अहं भी कभी-कभी क्रोध का रूप लेकर आता है। यदि यही क्रोध अनीति-अभाव के प्रति हो एवं किसी सकारात्मक कार्य में, रचनात्मक आंदोलन में नियोजित करे, तो समझ में भी आता है; पर जब यही वृत्ति अपने प्रति, अपनों के प्रति मिलती है, तो व्यक्तित्व के विघटन का, दोहरे व्यक्तित्व के जन्म का तथा फिर कई प्रकार के मनोविकारों का कारण बनती है। हमें समाज में आज इसी के प्रति अधिकाधिक जागरूकता पैदा करनी है, ताकि आदर्श समाज जन्म ले सके।

ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति

अगले श्लोक में श्रीकृष्ण उस योगी साधक की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि जिसने अपने भीतर सुख की प्राप्ति कर ली है, जो आत्मा में ही रमण करता है और आत्मा ही जिसकी ज्योति है, ऐसा योगी ही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करके निर्वाण पद को प्राप्त होता है। श्लोक इस प्रकार है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ५/२४

शब्दार्थ करें, तो इस तरह समझ में आता है—

जो (यः) आत्मा में ही सुखी, (अंतःसुखः) आत्मानंद में ही मग्न अर्थात् तन्मय (अंतरारामः) तथा (तथा) जो (यः) अंतर्लोक में ज्ञान से प्रकाशित हैं (अंतःज्योति एव), वे योगी (स योगी) ब्रह्मभाव प्राप्त कर (ब्रह्मभूतः) ब्रह्म में निर्वाण (ब्रह्मनिर्वाणं) प्राप्त करते हैं (अधिगच्छति)।

भावार्थ इस प्रकार हुआ—“जो पुरुष अंतरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्ययोगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है।” (५/२४)

ब्रह्मभाव प्राप्त कर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति किस योगी को मिलती है, इसका स्पष्ट चित्रण श्रीकृष्ण करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मात्र काम-क्रोध के वेग को धारण कर नियंत्रण कर लेने से मुक्ति-लाभ नहीं हो जाता। जो अंतर्मुखी हो आत्मानंद में परितृप्त होते हैं एवं जो साधक अपनी व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना में लय कर देते हैं, वे ही आत्मस्वरूप ब्रह्म में स्थिर होकर मोक्ष-लाभ की प्राप्ति कर पाते हैं। लगता तो कुछ जटिल-सा है, पर सरल किया जा सकता है।

ईश्वर को पाना है, तो संसार का स्वामी बनना होगा। जब तक हम सुख के लिए अपने आस-पास के संसार पर आश्रित हैं, इस संसार के दास हैं। किसी पदार्थ या व्यक्ति पर हमें निर्भर नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे हमारी निज की स्वतंत्रता छिन जाती है। आत्मज्ञानी, साधक स्तर के योगी दिव्यकर्मी अपनी आत्मा में ही आनंद की प्राप्ति करते हैं। (अंतःसुखः), आत्मा में ही रमण करते हैं (अंतरारामः) तथा आत्मा ही उनकी ज्योति होती (अंतर्ज्योतिः) है। वे अपने भीतर

अनंत आनंद का अनुभव कर जीवन में पूर्ण स्वतंत्रता की अनुभूति करते हैं। (स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतः अधिगच्छति)। ऐसे व्यक्ति सदैव अपने ऊपर आत्मनिर्भर होते हैं और निर्वाणपद के सच्चे अधिकारी भी होते हैं।

जो अंदर से सुखी है, अंतराराम है और अंतःज्योति में ध्यानस्थ है, वही योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है। निर्वाण से यहाँ अर्थ है—परम आत्मस्वरूप में मानव के अहं का लोप होना। वह अब मात्र एक छोटा-सा व्यक्तित्व भर नहीं रह गया है। वह ब्रह्म हो गया है। उसकी चेतना शाश्वत में लीन हो गई है। निर्वाण के बारे में जैसा कि पहले भी कहा गया है, बड़ी भ्रांतियाँ हैं। कई लोग नहीं जानते कि निर्वाण किस अवस्था का नाम है। इसी को समझाने के लिए भगवान् पच्चीसवें श्लोक में ब्रह्मनिर्वाण की व्याख्या करते हैं कि यह किन्हें मिलता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ५/२५

निष्पाप (क्षीणकल्मषाः) संशयों से मुक्त (छिन्नद्वैधा) आत्मा में लीन चित्त वाले (यतात्मानः) सभी प्राणियों के कल्याण साधन में निरत (सर्वभूतहिते रताः) ऋषिगण (ऋषयः) ब्रह्मनिर्वाण पद (ब्रह्मनिर्वाणं) प्राप्त करते हैं (लभन्ते)।

अब भावार्थ हुआ—

जिनके पाप (सभी वासनाएँ) नष्ट हो गए हैं, संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गए हैं, इंद्रियाँ जिनकी वश में हैं, ऐसे ऋषिगण सबके कल्याण के लिए कर्म करते हुए इसी जीवन में मोक्ष को (शांत ब्रह्म को) प्राप्त होते हैं।

मोक्ष किसे मिलता है ?

यहाँ सारे लक्षण निष्काम कर्मयोगी के बताए गए हैं—(१) वे आत्मज्ञान संपन्न ऋषि होते हैं। (२) पापमुक्त जीवन जीते हैं। (३) संशयों से परे चलते हैं। (४) आत्मानंद में मग्न होते हैं। (५) सभी प्राणियों के कल्याण में सतत निरत रहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण को, मोक्षपद को, परमसत्ता को प्राप्त होते हैं, जीवित रहते हुए ही मोक्ष पा लेते हैं।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ज्ञान से पापों व संशयों के विनष्ट होने तथा अपने मन पर अपना नियंत्रण स्थापित करके आत्मानंद में मग्न होकर सबके कल्याण हेतु जीवन जीने वालों को ऋषि कहा है। ऐसे ऋषिगण ही जीवित रहते ब्रह्मनिर्वाण को, मोक्ष को प्राप्त होते हैं, यह बात पुनः दोहराई है। सच्चा आत्मज्ञानी भगवान् के अनुसार वह है, जिसकी वासनाओं का क्षय हो गया है (क्षीण कल्मषाः)। चूँकि उसने अपने भीतर विद्यमान भावातीत परब्रह्म की सत्ता का अनुभव कर लिया है एवं संशयमुक्त है (छिन्नद्वैधाः), उन्हें विषय-भोगों के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं अनुभव होती, आत्मानंद ही सर्वोपरि होता है, वे स्वाभाविक रूप से आत्मसंयमी हो जाते हैं (यतात्मानः)। ऐसे परमज्ञानी ही सबके कल्याण में सदैव निरत रह निर्वाणपद को प्राप्त होते हैं।

लोकशिक्षक ऋषि

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में हम कुछ ऐसा ही दर्शन करते हैं। उनकी आत्मकथा 'हमारी वसीयत और विरासत' और उन पर लिखी पुस्तकें 'चेतना की शिखर यात्रा, प्रज्ञावतार हमारे गुरुदेव' आदि का अध्ययन कर लगता है कि सारा जीवन उनका इसी तरह लोकशिक्षण करते हुए व्यतीत हुआ। मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् एवं आत्मवत् सर्वभूतेषु की उनकी साधना इसी तरह का जीवन जीते संपन्न हुई। सही

अर्थों में ब्राह्मणत्व को जीवन में उतारते हुए सबके कल्याण के लिए सभी कर्म किए। सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' की तरह जीवन जीने वाले ऐसे महापुरुष ही ऋषि की पदवी पर शोभित होते हैं। अखिल विश्व गायत्री परिवार जो उनसे विनिर्मित किया, एक नमूना है, जो एक ऋषि के परम पुरुषार्थ का प्रतीक है। हम उनके जीवन से गीता के इस पाँचवें अध्याय के बहुत-से पक्षों को सीख सकते हैं।

ऊपर के, इस कड़ी में वर्णित तीनों श्लोक जिस एक निष्कर्ष पर हमें लाते हैं, वह है आत्मज्ञान से आत्मजाग्रति। इससे व्यक्ति विश्ववन्द्य ऋषि ही नहीं बन जाता, वह स्वयं में परमानन्द की, ब्रह्म से तादात्म्य की सतत अनुभूति करता रहता है। वह स्वयं में आत्मनिर्भर होता है तथा विशिष्ट गुणों से युक्त होता है, सदैव प्रसन्न रहता है, आंतरिक समत्व का एक विलक्षण उदाहरण होता है। हम सबके लिए २३, २४, २५ क्रमांक के श्लोक युगनायक बनने, जितेंद्रिय बनने, दिव्यकर्मी-सेवाभावी-समाजशिल्पी बनने का संदेश लेकर आते हैं। आज ऐसे ही व्यक्तियों की समाज में सर्वाधिक आवश्यकता है। ये ही प्रकाश-स्तंभ बन सभी का यथोचित मार्गदर्शन कर सकते हैं। इन्हीं का तो आज चारों ओर अकाल है। क्या हम बन सकते हैं? गीता हमसे प्रश्न पूछती है।



परम शांतिरूपी मुक्ति का एकमात्र मार्ग

एक विहंगावलोकन

पाँचवें अध्याय का शुभारंभ कर्मसंन्यास व कर्मयोग सम्बन्धी अर्जुन की जिज्ञासा से हुआ था। कर्मयोग से संन्यास तक की चर्चा करते हुए २५वें श्लोक में हम ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं। वे कहते हैं कि पंडितजन-विद्वत्जन संन्यास और कर्मयोग को एकसमान फल देने वाला मानते हैं। श्रेष्ठ दिव्यकर्मी बनने के लिए जितेन्द्रिय विशुद्ध अंतःकरण वाला बनकर आसक्तिरहित कर्म करने वाला स्वयं को स्थापित करना होगा। अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति एवं उसी परब्रह्म में तद्रूपता व्यक्ति को उस स्थान पर पहुँचा देती है, जहाँ वह ब्रह्म में स्थित होकर मोक्ष को, अनंत सुख को प्राप्त हो जाता है। अब आगे के श्लोकों (२६वें) में भगवान् ब्रह्मवेत्ता, मोक्ष को प्राप्त दिव्यकर्मी को प्राप्त होने वाली उपलब्धियों की, तदुपरांत ध्यानस्थ होकर मुक्त होने तथा अंत में परमात्मतत्त्व से साक्षात्कार प्राप्त होने की चर्चा कर इस अध्याय का समापन करते हैं।

छब्बीसवाँ श्लोक इस प्रकार है-

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ ५/२६

इसका शब्दार्थ करके देखें-

काम-क्रोध आदि विकारों से मुक्त (कामक्रोधवियुक्तानां), संयत चित्त वाले (यतचेतसाम्) आत्मज्ञ (विदितात्मनाम्), यतिगणों को (यतीनां) शरीर छोड़ने से पहले एवं बाद में (अभितः) ब्राह्मी स्थिति की अवस्था में निर्वाण की (ब्रह्मनिर्वाणं) प्राप्ति होती है (वर्तते)।

पूरे श्लोक का भावार्थ हुआ-आत्मज्ञानी जिनने काम-क्रोध से मुक्ति पाई है, जिनका चित्त जीता हुआ है, जिनकी इंद्रियाँ और मन नियंत्रण में हैं, ऐसे साधकगण ही इहलोक और परलोक में ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं अर्थात् शांत, परब्रह्म परमात्मा से साक्षात्कार करते हैं।

ब्राह्मी स्थिति में मोक्षपद की प्राप्ति

ब्रह्मनिर्वाण की चर्चा योगेश्वर श्रीकृष्ण विगत दो श्लोकों से कर रहे हैं, जिसकी विस्तार से व्याख्या विगत अंक में की जा चुकी है। आत्मस्वरूप ब्रह्म में स्थिर होकर मोक्ष-लाभ प्राप्त करना ब्रह्मनिर्वाण कहलाता है। यह एक प्रकार का पद है, जिसे पाने की हर मनुष्य में अभिलाषा होनी चाहिए। ब्राह्मी स्थिति में निर्वाण-मोक्ष की प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य हो, यह श्रीकृष्ण चाहते हैं। इसके लिए वे पहले ही बता चुके हैं कि ऐसे व्यक्तियों के सभी पाप (वासनाएँ) नष्ट हो जाने चाहिए, संशयों की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा हो जानी चाहिए, इंद्रियाँ उनके अपने वश में होनी चाहिए तथा उन्हें सबके कल्याण के लिए निरंतर निष्काम कर्म में निरत हो जीवन जीना चाहिए। ऐसा होने पर वे इसी जीवन में मोक्ष-लाभ (जीवनमुक्ति, बंधनमुक्ति) प्राप्त करते हैं।

अब इस छब्बीसवें श्लोक में उनका कथन है कि शरीर छोड़ने से पूर्व या बाद में ब्रह्मनिर्वाण पाना है, परब्रह्म परमात्मा से साक्षात्कार करना हो, तो कुछ अनिवार्य तप प्रधान शर्तें हैं, जिन्हें पूरा करना ही होगा। ये हैं-

- (१) काम, क्रोध आदि विकारों से मुक्ति पा लेना।
- (२) संयत चित्त वाला (चित्त पर विजय प्राप्त) होना।
- (३) आत्मज्ञ पुरुष होना
(आत्मसत्ता की जानकारी, आत्मज्ञान होना)।

ये तीनों शर्तें पूरी करते ही हम यती-योगी की उपाधि पा लेते हैं। तब हमें बंधनों से मुक्ति से कोई रोक नहीं सकता। हो सकता है- वह शरीर रहते मिल जाए, हो सकता है-मृत्यु के बाद मिले, परंतु यह सुनिश्चित है कि हम परब्रह्म परमात्मा से साक्षात्कार कर शांति पा सकेंगे, लौकिक कोलाहल से मुक्ति पा सकेंगे और उस अभीष्ट पद को प्राप्त कर सकेंगे, जिसके लिए हमारा जन्म हुआ है।

यती बनने की अनिवार्य शर्तें

धीरे-धीरे कर्मयोग के दर्शनपक्ष की चर्चा करके श्रीकृष्ण अब उसके व्यावहारिक पक्ष पर आ रहे हैं और अधीर अर्जुन को इन अंतिम उपसंहार के श्लोकों में कर्मयोग संपन्न करते-करते ध्यानयोग की ओर प्रवृत्त होने का शिक्षण दे रहे हैं। इससे आगे के दो श्लोक उसी ध्यानयोग की भूमिका बनाते हैं एवं छठा अध्याय हमें विस्तार से उस दिशा में ले जाता है, इसीलिए वे बार-बार जोर देते हैं कि यतीगणों को (योगीजनों को) जिन्हें ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करना है, पहली जिस बात पर ध्यान देना चाहिए वह है, वासनाओं को क्षीण बनाकर, उन्हें परिमार्जित कर काम-क्रोध रूपी विकारों से मुक्ति पा लेना। वासनाओं के जीवित रहते योग सधेगा कैसे? ध्यान हो कैसे पाएगा? कामबीज को ज्ञानबीज में बदलना अत्यधिक अनिवार्य है। साधनापथ की यह पहली शर्त है। यों तो संभोग से समाधि से लेकर तरह-तरह के आधुनिक 'योगा' के शॉर्टकट निकल आए हैं, पर उनसे कुछ उपलब्धि नहीं होने वाली। होगी कब? जब अपना मन संयत (यतचेतसाम्) होगा। चित्त नियंत्रित हो, तो कोई भी बहिरंग की उत्तेजना अंदर प्रवेश कर शांति भंग नहीं कर सकती।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं, "शुद्धात्मा निर्लिप्त होते हैं। ईश्वर में विद्या और अविद्या दोनों हैं, पर वे निर्लिप्त हैं। वायु में कभी

सुगंध मिलती है और कभी दुर्गंध, परंतु वायु निर्लिप्त है। व्यासदेव यमुना पार कर रहे थे। वहाँ गोपियाँ भी थीं। वे भी पार जाना चाहती थीं, दही, दूध, मक्खन बेचने के लिए। वहाँ नाव न थी। सब सोचने लगे, कैसे पार जाएँ। इसी समय व्यासदेव ने कहा, 'मुझे बड़ी भूख लगी है।' तब गोपियाँ उन्हें दही, दूध, मक्खन, खड़ी सब खिलाने लगीं। व्यासदेव लगभग सब साफ कर गए। फिर व्यासदेव ने यमुना से कहा, 'यमुने, अगर मैंने कुछ भी न खाया हो, तो तुम्हारा जल दो भागों में बँट जाए। बीच से राह हो जाए और हम लोग निकल जाएँ।' ऐसा ही हुआ। यमुना के दो भाग हो गए। उस पर जाने की राह बीच से बन गई। इसी रास्ते से गोपियों के साथ व्यासदेव पार हो गए" समझाते हुए ठाकुर कहते हैं, "मैंने नहीं खाया, इसका अर्थ यही है कि मैं वही शुद्धात्मा हूँ। शुद्धात्मा निर्लिप्त है, प्रकृति के परे है। उसे न भूख है, न प्यास। न जन्म है, न मृत्यु। वह अजर, अमर और सुमेरुवत है। जिसे यह ज्ञान हुआ, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई, वही जीवनमुक्त है। वह ठीक समझता है कि आत्मा अलग है, देह अलग। ईश्वर के दर्शन करने पर देहात्म बुद्धि नहीं रह जाती।" (पृष्ठ ५३-५४, रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय)

अशक्ति व तनाव से मुक्ति का एकमेव उपाय

ठाकुर श्रीरामकृष्ण की अमृतवाणी से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता क्या है? हमें अगर मुक्ति पानी है, तो इस स्तर की पात्रता विकसित करनी ही होगी। किसी भी साधक की यह महत्त्वाकांक्षा होती है। सारी जिंदगी एक आम आदमी की, विषयों के पीछे भागने में नष्ट हो जाती है, शक्ति क्रमशः नष्ट होती रहती है। असंख्य कामनाओं की तुष्टि ही हम सबके जीवन का एकमेव उद्देश्य बन गया है। शक्ति के नष्ट होने से दुःख की प्राप्ति होती है। घोर मानसिक यातना सहन करनी

होती है। तनावयुक्त जीवन जीकर भी व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति का प्रयास करता रहता है। शरीर की शक्ति भी क्रमशः क्षीण होती चली जाती है। अशक्ति उसे धर दबोचती है; क्योंकि जीवनी शक्ति असंयम के कारण जर्जर हो जाती है। आज के हर युवा की यही कहानी है। ऐसा ही युवा योद्धा अर्जुन भी है; परंतु वह योगेश्वर श्रीकृष्णरूपी गुरु को पाकर स्वयं को सौभाग्यशाली भी अनुभव कर रहा है तथा अपने सामने आध्यात्मिक स्तर की दिव्य संभावनाएँ भी साकार होती देख रहा है। गहन ध्यान द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार कैसे किया जा सकता है, यह सब श्रीकृष्ण उसे बता रहे हैं।

ब्रह्मनिर्वाण की चर्चा के तुरंत बाद दो श्लोक ऐसे आते हैं, जो हमें ध्यान का स्वरूप बताते हैं। साथ ही वह योगी को मुक्त रहने का उपाय भी सुझाते हैं। यद्यपि यह सब विस्तार से अगले अध्याय 'आत्मसंयम योग' में आया है, पर यहाँ दो श्लोकों द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य को उसकी एक झलक मात्र दिखा दी है। श्लोक इस प्रकार हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (५/२७-२८)

अब इनका शब्दार्थ देखें—

बाहरी (बाह्यान्) स्पर्श-शब्दादि विषय-संयोग (स्पर्शान्) मन से बाहर ही रखकर (बहिःकृत्वा) चक्षुओं को (चक्षुः) भ्रूमध्य मार्ग में (भ्रुवो अन्तरे एव) [स्थापयित्वा-स्थापित करके] नाक के भीतर संचरित (नासा-अभ्यन्तरचारिणौ) प्राण और अपान वायु को (प्राणापानौ) समभाव से स्थिर रखकर (समौ कृत्वा), इंद्रिय, मन और बुद्धि को संयत रखकर (यत-इन्द्रिय-मनः-बुद्धि), इच्छा, भय, क्रोध से रहित होकर (विगत इच्छा-भय-क्रोधः), मोक्ष की इच्छा

रखने वाले (मोक्षपरायणः) जो (यः) मुनि (मुनि) है, वह सदा मुक्त ही हैं (सः सदा मुक्तः एव) ॥ ५/२७-२८

भावार्थ हुआ-बाहर के विषयभोगों का चिंतन न कर उन्हें मन से बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी मध्य में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इंद्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा मोक्षपरायण मुनि (सतत परमेश्वर के स्वरूप का मनन करने वाला), जो इच्छा, भय, क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है।

सूत्र रूप में ध्यान की विधि

ऐसा लगता है कि मोक्ष-जीवनमुक्ति-ब्रह्मनिर्वाण की सैद्धांतिक व्याख्या करते-करते श्रीकृष्ण एकदम विधि पर क्यों आ गए? कहीं यह विषयांतर तो नहीं? नहीं, ऐसा नहीं है। यह मुक्त होने का उपाय उनसे सूत्र रूप में यहाँ बता दिया है। वे क्रमशः अर्जुन की जिज्ञासा जाग्रत् कर रहे हैं, जो छठे अध्याय में उसके मन की वेदना 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्' के रूप में अभिव्यक्त होने वाली है। साथ ही वे योग की पराकाष्ठा पर भी अपने साधक शिष्य को ले जा रहे हैं। यह चित्तवृत्ति निरोध, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का पातंजलि के अष्टांग योग का वर्णन है, जो यहाँ राजयोग के रूप में व्याख्या करके बताया गया है। ये सभी मन को समाधि की ओर ले जाने वाली प्रक्रियाएँ हैं, जिनका लक्ष्य मोक्ष है। संपूर्ण कर्म चैतन्य के त्याग को एवं परब्रह्म में अपनी सत्ता के संपूर्ण अस्तित्व को लय करने को मोक्ष कहते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कार कैसे ?

जब साधक अपने मन की इच्छाओं, कामोद्वेगों पर नियंत्रण प्राप्त कर अपना पूरा ध्यान चैतन्य की गहन अवस्थाओं की ओर मोड़ेगा तब ही ब्रह्मसाक्षात्कार कर पाएगा। ध्यान सबसे महत्त्वपूर्ण तरीका है-

अपने आपे से अपने अंदर बैठे परब्रह्म से साक्षात्कार करने का। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं, “मैं और परब्रह्म एक ही हैं, यह जानना ज्ञानी का उद्देश्य होना चाहिए। माया के कारण ही वह यह तत्त्व नहीं जान पाता।” हर किसी का ध्यान विधिमात्र बताने से नहीं लगेगा। जिसने इंद्रियाँ, मन, बुद्धि जीत ली हैं, जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, ऐसा मोक्ष की इच्छा रखने वाला, सतत परमात्मा के स्वरूप का मनन करने वाला ही मुक्ति का, ध्यान की सफलता का, परब्रह्म से साक्षात्कार का सही अधिकारी है, परंतु यह श्लोक श्रीकृष्ण का अंतिम वाक्य नहीं है इस अध्याय में। आखिरी बात, परम वचन तो उस महावाक्य के रूप में है, जो अंतिम उनतीसवें श्लोक के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सारे कर्मयोग का मर्म बताता है तथा पुरुषोत्तम के स्वरूप को स्पष्ट करता है यह श्लोक।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ५/२९

शब्दार्थ को समझें—

(समाहित चित्त योगी) मुझे (मां) यज्ञ और तपस्या का फलभोक्ता (यज्ञतपसां भोक्तारं) समस्त लोकों का महेश्वर (सर्वलोक-महेश्वरं) तथा सभी प्राणियों का परम उपकारी, निःस्वार्थ दयालु (सर्वभूतानां सुहृदं) जानकर (ज्ञात्वा) परम शांति प्राप्त करते हैं (शान्तिं ऋच्छति)। अर्थात् जब (ऊपर बताए वर्णनानुसार समाहित चित्त योगी) साधक मुझ श्रीकृष्णरूपी भगवान् को सभी यज्ञों और तपों का भोक्ता, समस्त लोकों का महेश्वर तथा सभी प्राणियों का परम मित्र दयालु जान लेता है, तब वह परमशांतिरूपी मुक्ति को प्राप्त होता है।

(५/२९)

युगगीता

117

सर्वलोक महेश्वरम्

अब जरा इस श्लोक की महिमा समझें। यह श्री गीताजी के माध्यम से श्रीकृष्णरूपी पुरुषोत्तम के मुँह से निकला महावाक्य है। ब्रह्मनिर्वाणरूपी शांति तभी मिलेगी, जब जीव को विराट् पुरुष का ज्ञान भी हो कि वह कैसा है? श्रीकृष्ण पूरी गीता में स्थान-स्थान पर अहं, माम् आदि शब्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। वहाँ उनका अभिप्राय उन्हीं भगवान् परमेश्वर से है, जो शक्ति और कर्म के स्वामी हैं, परात्पर पुरुष हैं, पार्थ-सारथी रूप में इस महायुद्ध में अवतरित हुए हैं एवं सभी जीवों के ईश्वर हैं। वे चूँकि सभी यज्ञों और तपों के भोक्ता हैं, इसलिए मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष को सब कर्मों को यज्ञीय भाव से तपश्चर्या मानकर करना चाहिए। वे सर्वलोक महेश्वर हैं। वे सबके सुहृद हैं, निःस्वार्थ, दयालु एवं प्रेमी हैं, इसीलिए वही मुनि कहे जाने योग्य हैं, जो ऐसा ही व्यवहार सभी जीवों से करता है। सब भूतों के कल्याण हेतु, सन्मार्ग की प्रेरणा हेतु ही जिसका जीवन है। ऐसे अक्षर पुरुषोत्तम भगवान् के साथ एक होने पर वह मानवमात्र से दिव्य प्रेम कर सकता है।

युगप्रवर्तन का कर्मयोग

युगधर्म को युगसाधना समझने वाला ही सच्चे अर्थों में मुनि है, सच्चा संन्यासी है। परम पूज्यगुरुदेव ने हमें युगप्रवर्तन के कार्य में इसी कारण लगाया। स्वयं उनसे कठोर साधना की, चौबीस लक्ष के चौबीस गायत्री अनुष्ठान (लगभग साठ करोड़ गायत्री मंत्र जप) संपन्न किए एवं हम सभी को भी न्यूनतम गायत्री साधना से जोड़कर आराधना में, कर्मयोग में प्रवृत्त कर दिया। गीता में भगवान् अर्जुन को पहचानते हैं कि उसका धर्म संन्यास नहीं है। कुसमय का, कच्चेपन का वैराग्य गड़बड़ी पैदा करता है। कभी वह कहता है कि युद्ध नहीं करूँगा, संन्यास ले

लूँगा। श्रीकृष्ण अर्जुन के मन से वैराग्य का भूत भगाने की कोशिश कर रहे हैं। इसीलिए कर्मयोग की महत्ता समझाते हुए उसे परब्रह्म की सत्ता के प्रति समर्पित हो यज्ञीय भाव से कर्म करने को कह रहे हैं। यही पूज्यवर ने किया। उनने भी हमारे मनों को पढ़ा। हमें युगधर्म निभाने को कहा। इस युग में प्रज्ञा अभियान को गति देना, विचार क्रांति अभियान को तीव्र विस्तार देना, यही सबसे बड़ी सेवा है। यही कुरुक्षेत्र का महाभारत है। इसमें लगकर युद्ध में विजयी होना सभी का लक्ष्य हो। इसीलिए जटिल साधनाओं के जंजाल में न उलझाकर परमपूज्य गुरुदेव ने हम सभी को ज्ञानयज्ञ रूपी युगधर्म संपन्न करने को कहा।



‘महावाक्य’ से समापन होता है कर्म संन्यास योग की व्याख्या का

महावाक्य एवं उसकी व्याख्या

श्री भगवान् इस अंतिम श्लोक में जो कह रहे हैं वह भलीभाँति समझने योग्य है। दो पंक्तियों में मानो वेदव्यास ने श्रीकृष्ण के सारे प्रतिपादन को समाहित कर दिया है। कर्मयोग की महत्ता बताते-बताते भगवान् सारी साधनाओं की सिद्धि का मर्म भी कह जाते हैं। वह मर्म है-ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर संपूर्ण समर्पण। भगवान् को तत्त्व से जानना। अपने सभी यज्ञीय कर्मों एवं तप-साधनादि कठोर संयम से पाले गए व्रतों का भोक्ता प्रभु को मानना, स्वयं को नहीं। ईश्वर को स्वार्थरहित, पक्षपात रहित एवं दयालु मानकर उसके प्रति पूरे निष्ठाभाव से समर्पण। वह सुहृद है, दयालु है, प्रेमी है, यह मानकर निष्काम भाव से अपने सभी कर्म एवं आत्मिक प्रगति के लिए किए गए साधना-उपचार करते चलना। कभी फल की कामना में जल्दबाजी न करना। यह गीता के योग की पराकाष्ठा है, जिसमें प्रभु इस महावाक्य के माध्यम से परमशांति की मानो कुंजी अर्जुन के माध्यम से हमें सौंप देते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ५/२९

यह जो अंतिम श्लोक है पाँचवें अध्याय का, सभी साधकों के लिए जो कर्म-संन्यासयोग जानना चाहते हैं, एक प्रकार से सूत्र रूप में की गई समग्र व्याख्या है। कर्मयोग में ज्ञान व भक्ति का स्थान-स्थान पर तालमेलपूर्वक समन्वय एवं जीवन को सर्वांगपूर्ण ढंग से जीवन का विज्ञान गीता की विशेषता है। गीता जीवन प्रबंधन की पाठ्य पुस्तिका

है एवं स्थान-स्थान पर योगत्रयी को जीवन में समाहित करने का संदेश देती रहती है। मानव की सबसे बड़ी इच्छा इस लोक में शांति पाने की है। वह परमात्म-तत्त्व को जाने बिना संभव नहीं। परमात्मा को कर्म से समझकर कर्मयोग का भलीभाँति संपादन कर तथा इस परमपिता परमात्मा को सर्वलोक महेश्वर मानकर सर्वतोभावेन समर्पण-यही वह राजमार्ग है, जिस पर चलकर मनुष्य को शांति मिल सकती है। तनावमुक्त जीवन, आत्मिक प्रगति का खुले वातायनों से भरा पथ इस प्रक्रिया से सुलभ हो जाता है।

सर्वलोक महेश्वर को अर्पण

चूँकि परमात्मा ही सभी प्रकार के यज्ञों एवं तपों के भोक्ता हैं, इसलिए मुक्ति की कामना रखने वाले सभी साधकों को अपने सभी कर्मों को यज्ञ व तप रूप में करते हुए विराट् पुरुष उस महेश्वर को उनके फल को अर्पित कर देना चाहिए। मुक्त पुरुष यदि बंधनों से मुक्त भी हो गया है, तो भी उसे लोकसंग्रह हेतु (लोकशिक्षण हेतु) कर्म करते रहना चाहिए अर्थात् भटकों को राह दिखाने, सन्मार्ग के पथ पर चलने का शिक्षण देते रहना चाहिए। छब्बीसवें श्लोक में भगवान् ने एक शब्द का प्रयोग किया है-“अभितो वर्तते”। निर्वाण केवल अंदर ही नहीं, हमारे चारों ओर भी विद्यमान हो। हम उस ब्रह्मचैतन्य में निवास करें। यही बात इस अंतिम श्लोक में बताई है कि वही मुनि है, जिसने अपने अंदर, अपने चारों ओर निर्वाण लाभ प्राप्त कर लिया है, फिर भी वह जीवमात्र के कल्याण में सतत निरत रहता है। जो भगवान् के साथ उन्हें तत्त्व से जानकर एक रूप हो गया, वह मनुष्य मात्र से दिव्य प्रेम कर सकता है। ईश्वर को दयालु, प्रेमी मानने के बाद व्यक्ति उस विराट् पुरुष का ही एक अंग बन जाता है एवं एक प्रकार से उनके कर्म को तत्त्व से जानकर शांति की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।

अंतिम श्लोक रूपी महावाक्य-आखिरी वचन से जो हम कर्म समझ पाते हैं, वह हमारे जीवन के हर क्षण में उतर जाए, तो हम एक सच्चे दिव्यकर्मी बन सकते हैं। ऐसे महामानव को कर्म करते हुए जो दिव्य शांति मिलती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस अंतिम श्लोक में जो “सर्वलोकमहेश्वर” शब्द आया है, उसे कई बार हम कर्मरूप में समझ नहीं पाते। इसे समझाते हुए श्री जयदयाल गोयंदका जी अपनी तत्त्वविवेचिनी टीका में लिखते हैं कि अपने-अपने ब्रह्मांड का नियंत्रण करने वाले जितने ईश्वर हैं, भगवान् उन सभी के स्वामी और महान ईश्वर-परमेश्वर हैं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् का हवाला देते हुए वे कहते हैं, “तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्” (उन ईश्वरों के भी परम महेश्वर को) पद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस रूप में भगवान् को मानने वाला भक्त कभी भटकता नहीं। काम-क्रोधादि विकार उसके पास कभी फटकते नहीं। ऐसा भक्त शांत, निर्विकार एवं सदैव प्रभु के ध्यान में डूबा रहता है।

भगवान् को अहैतुक प्रेमी मान लेना व यह विश्वास करना कि वे जो भी कुछ करते हैं, मेरे मंगल के लिए करते हैं, इस श्लोक की धुरी है। लोग इस तथ्य को समझ नहीं पाते, इसीलिए दुःखी बने रहते हैं व कभी शांति को प्राप्त नहीं होते। यदि सर्वशक्तिमान, सर्वनियंता व सर्वदर्शी परमात्मा हमें अपना सुहृद मानता है और हम भी इस तथ्य पर विश्वास कर उसे अपना सखा, प्रेमी, निःस्वार्थ भाव से साथ दे रहा सहयोगी मान लें तो हम अलौकिक आनंद प्राप्त करेंगे एवं अपूर्व शांति को हस्तगत करेंगे।

भगवान् को तीन गुणों से पहचानें

ऊपर तीन बातें बताई गई। भगवान् को यज्ञों व तपों का भोक्ता मानना, समस्त लोकों का महेश्वर मानना तथा सभी प्राणियों को सुहृद

मानना। यदि इन तीन में से साधक-योगी किसी एक पर भी अडिग रह दृढ़ विश्वास कर ले, तो वह परमशांति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक दिव्यकर्मी वह ही है, जो इन तीनों के अर्थ को भलीभाँति समझकर किसी एक पर या तीनों पर दृढ़ विश्वास रख महापुरुषों के सत्संग, मनन, श्रेष्ठ पुस्तकों के स्वाध्याय द्वारा श्रेष्ठतम कर्म करते हुए अपनी जीवनयात्रा को आगे बढ़ाए। उसका इहलोक-परलोक दोनों ही सध जाएँगे।

परमपूज्य गुरुदेव ने अपने जीवनकाल के पूर्वार्द्ध में सबसे पहली पुस्तक लिखी-“मैं क्या हूँ”। वेदांत दर्शन पर आधारित यह पुस्तक एक आत्मनिवेदन रूप में यह बताती है कि हमारे अंदर विद्यमान आत्मसत्ता में कितनी शक्ति भरी पड़ी है। वह किस विराट् सत्ता की अंशधारी है। बाद में पूज्यवर ने काफी पुस्तकें लिखीं, परंतु ‘ईश्वर और उसकी अनुभूति’, ‘ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? तथा ‘आत्मज्ञान जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि’ इस विषय पर सर्वोत्तम ग्रंथ हैं। इन पुस्तकों में वही व्याख्या है, जो गीता के पाँचवें अध्याय के इस २९वें श्लोक में वर्णित है। ईश्वर को जान-समझ लिया, तो फिर सारे क्लेशों, बंधनों से मुक्ति मिल जाती है। परमपूज्य गुरुदेव इस संबंध में ईसा एवं रामकृष्ण परमहंस से संबंधित उस घटना का उल्लेख करते थे, जिसमें कुष्ठग्रस्त रोगी की सेवा ईश्वर मानकर की गई थी। किसी भी प्रकार की जुगुप्सा नहीं, कोई और भाव नहीं। जीवमात्र में जब ईश्वर की झलक दिखाई देती है, तो मनुष्य ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ का भाव रख सेवा प्रधान जीवन जीने लगता है।

पूरे अध्याय का सारामृत

छठवें अध्याय की ओर बढ़ने से पूर्व इस महत्त्वपूर्ण पाँचवें अध्याय के सारामृत को एक बार फिर ग्रहण करने का प्रयास करें,

ताकि तेरह माह से चला आ रहा यह स्वाध्याय जड़ जमाकर हमारे अंतस् में बैठ जाए एवं हमारे कर्मों में उतरने लगे। इस अध्याय का शुभारंभ ही अर्जुन की जिज्ञासा से हुआ है। वह भ्रमित है। उसने चौथे अध्याय में कर्मयोग की महिमा जानी, किंतु बीच-बीच में श्रीकृष्ण के श्रीमुख से ज्ञानयोग (कर्म संन्यास) की बातें भी 'ब्रह्माग्रावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' (श्लोक २५) तथा ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि....' (श्लोक २४) के माध्यम से जानीं। श्रीकृष्ण से अर्जुन यह जानना चाहता है कि कौन-सा साधन श्रेष्ठ है—कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग।

भगवान् ने अर्जुन को यहाँ बताया है कि पूर्णतया कर्मफल का परित्याग कर वह कर्मयोगी, नित्य संन्यासी बने। गीता का उपदेश कर्म त्यागना नहीं है, न ही स्वधर्म त्यागना। कर्म त्याग करके संसार में रहना संभव नहीं है। मनुष्य दिव्यकर्मों बने, न किसी से द्वेष करे, न किसी वस्तु की आकांक्षा रखे। राग-द्वेषादि द्वंद्वों से मुक्त व्यक्ति संन्यासी के ही समान है, यह श्रीकृष्ण का प्रतिपादन है। आगे वे ज्ञानियों व नासमझों में अंतर बताते हैं। वे कहते हैं कि पंडितजन (ज्ञानी-अध्यात्म के मर्म को समझने वाले) जानते हैं कि कर्म-संन्यास एवं कर्मयोग दोनों ही मार्ग एक ही लक्ष्य पर ले जाते हैं— परमात्मा की ओर। उन्हें पृथक् फल देने वाला नहीं मानना चाहिए। दोनों ही मार्ग पर चलकर मनुष्य परमात्मा के परमधाम तक पहुँचता है। आगे वे कहते हैं कि यदि कोई दिव्यकर्मों कर्म करते हुए जीवन व्यापार में सामान्य क्रम से जीते हुए अपने मन को अपने वश में रखता है, इंद्रियों पर नियंत्रण रखता है एवं अंतःकरण को शुद्ध बनाए रखता है, सभी प्राणियों में परमात्मा की झाँकी देखता है, तो वह कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता। हर कर्मयोगी को ज्ञानयोग के इस मर्म को मन में बिठाकर भगवत्स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। यहाँ प्रभु, जो योगेश्वर भी हैं एवं नीतिपुरुष भी, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग के एक सम्यक् संतुलन को जीवन में

उतारने का शिक्षण देते हैं। (श्लोक ६ व ७) जीवन जीने की कला के ये कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं।

आसक्ति को त्यागो

शिष्य अर्जुन के गुरु श्रीकृष्ण उसे बताते हैं कि उसे ऐसा कर्मयोगी बनना चाहिए जो काया, मन, बुद्धि एवं इंद्रियों से मात्र प्रभु अर्पित होकर कर्म करता है। वह समाज-समष्टि के हित हेतु जीवन जीता है एवं ये दिव्यकर्म मात्र अपनी अंतःशुद्धि हेतु करता है (श्लोक ११)। श्रीकृष्ण बार-बार एक बात पर ध्यान केंद्रित करने का निर्देश देते हैं-‘संगंत्यक्त्वा’ अर्थात् आसक्तियों को छोड़कर कर्म करो। (ऐसे आसक्तिरहित जीवन जीने वाले दिव्यकर्मी जैसे बालगंगाधर तिलक एवं हमारे गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी) इस प्रकार से किए गए कर्मों की परिणति बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि इससे कर्मयोगी भगवत् प्राप्तिरूपी शांति को प्राप्त होता है। सकाम कर्म करने वाला तो बंधनों में फँसता चला जाता है (श्लोक १२)।

आगे श्रीकृष्ण कर्मयोग से अर्जुन का ध्यान ज्ञानयोग की ओर आकर्षित करते हैं कि परमेश्वर तो कर्मफल संयोग से परे हैं, यह तो मानवी प्रकृति है, जो उससे कर्म करा रही है। यदि अज्ञान से ढके हुए ज्ञान के अमृतकण ग्रहण कर लिए जाएँ, तो उस दुर्गति से बचा जा सकता है, जो आज के आम आदमी की हो रही है। वह तो अज्ञान से मोहित हो, शिश्रोदरपरायण जीवन जी रहा है। परमात्मा का तत्त्वज्ञान उस अज्ञान को नष्ट कर देता है, जो सद्ज्ञानरूपी सूर्य पर बदली बनकर छाया हुआ है अथवा शीशे पर मैल की परत के रूप में विद्यमान है। (श्लोक १५, १६) अब श्रीकृष्ण भक्तियोग की सीढ़ी पर अर्जुन को चढ़ाते हैं व कहते हैं कि अपनी मन-बुद्धि को वह परमात्मा में विलय कर दे, अपनी निष्ठा आदर्शों के समुच्चय परमात्मा में रखे तथा तत्परायण

(उन्हीं परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से स्थित) बनने की कोशिश करे। ऐसा करने पर वह परमगति को प्राप्त होगा, बार-बार वासनाओं के वशीभूत हो उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। 'ज्ञान निर्धूत कल्मषाः' को उद्धृत कर वे कहते हैं कि ज्ञान द्वारा पापरहित होने पर योगी के हर कर्म दिव्यकर्म बन जाते हैं (श्लोक १७)।

ब्रह्मणि स्थितः

बड़ी विलक्षण है—इस अध्याय के उनतीस श्लोकों की यात्रा। एक-एक श्लोक मानो एक अध्याय के समान है। तुरंत अगले श्लोक में योगेश्वर कह बैठते हैं कि जो योगी अपनी भाँति संपूर्ण भूतों में—जीवधारियों में, गौ, हाथी, कुत्ते अथवा चांडाल, ब्राह्मण में सभी को समभाव से देखता है, वही श्रेष्ठतम योगी है एवं सही मायने में ज्ञानी है (श्लोक १८)। आगे छठे अध्याय के ३२वें श्लोक में भी कुछ ऐसा ही प्रतिपादन हम सुनेंगे। समभाव में स्थित योगी ऐसे जीता है, मानो उसने सारा संसार जीत लिया हो। वह सदैव ब्रह्म में स्थित होकर कर्म करता है। कौन-सा योगी ब्रह्म में स्थित हो सकता है, इसके लिए श्रीकृष्ण कुछ विशेषताएँ भी बताते हैं—जो प्रिय को प्राप्त कर हर्षित न हो, अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न हो, सदैव कर्म करता रहे एवं अपनी बुद्धि को प्रभु के श्री चरणों में नियोजित कर समर्पित भाव से जिए (श्लोक १९, २०)।

आगे श्रीकृष्ण अक्षय आनंद की प्राप्ति का सूत्र अर्जुन को बताते हैं। आदिकाल से मानव को इसी की तो तलाश रही है। दुर्भाग्यवश वह उसे इंद्रिय सुख में खोजता है। वहाँ से आसक्ति हटे, अंतर्मुखी हो वह ध्यानरूपी योग द्वारा सच्चिदानंदधन परब्रह्म परमात्मा से एकाकार होने का प्रयास करे, तो ही उसे वह आनंद मिलेगा। बुद्धिमान विवेकी पुरुष इसी कारण बहिरंग के भोग को छोड़कर अंतः के ब्रह्म में रमण करता है। (श्लोक २१, २२) सच्चे सुख की, अनिर्वचनीय आनंद एवं अक्षय

शांति की यही कुंजी है। शरीर हमारा भोगों में नष्ट हो-दुःख के हेतु बने विषयों में लिप्त हो जर्जर बन जाए, उसके पूर्व ही हमारा विवेक जाग जाना चाहिए एवं हमें काम-क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने हेतु स्वयं को समर्थ बना लेना चाहिए। काम और क्रोध परस्पर जुड़े हैं। दमित काम ही क्रोध के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा क्रोध आदमी की सारी शक्ति को नष्ट कर डालता है। जो इन दोनों आवेगों को नियंत्रित कर ले, श्रीकृष्ण की दृष्टि में वही योगी है, वही सुखी है-(स युक्तः स सुखी नरः) (श्लोक २३)।

शांत परब्रह्म बने हमारा इष्ट

तो फिर कर्मयोगी को, जो ज्ञानी भी है एवं तत्परायण एक भक्त भी, क्या करना चाहिए। उसे ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। आत्मा में ही रमण कर, आत्मज्ञान को प्राप्त कर, अपने सभी पापों व संशयों को नष्ट कर सर्वहितार्थाय कर्म करने वाला योगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह शांत परब्रह्म ही हम सबका इष्ट है। ऐसे व्यक्ति अपने अंदर व अपने आस-पास भी शांति का वातावरण बना देते हैं। ये युग प्रवर्तक होते हैं। युगनायक होते हैं एवं दूसरों के लिए जीते हैं। काम-क्रोधरूपी विकारों से ये मुक्त होते हैं तथा अपने चित्त पर, स्वभावजन्य आदतों पर इनका अपना नियंत्रण होता है। ऐसे व्यक्ति परब्रह्म परमात्मा की चेतना से आपूरित होते हैं, उनका साक्षात्कार कर चुके होते हैं (श्लोक २४, २५)। हर व्यक्ति के अंदर ऐसे दिव्ययोगी बनने की अनंत संभावनाएँ मौजूद हैं।

प्रतिपादन की पराकाष्ठा

अब अंतिम तीन श्लोकों में श्रीकृष्ण ऐसे दिव्य योगी बनने की प्रक्रिया की एक झलक दिखाकर अपने इस कर्म-संन्यास योग नामक

प्रकरण वाले अध्याय का पटाक्षेप करते हैं। जैसे फिल्मों के ट्रेलर दिखाए जाते हैं, कंप्यूटर के पॉवर पाइंट द्वारा गहन विषय को सूत्र रूप में समझाने का प्रयास किया जाता है, ठीक उसी तरह सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें श्लोक में ध्यान की विधि एवं मोक्षप्राप्ति (जीवनमुक्ति-बंधनमुक्ति) कैसे की जाए, इसकी एक झलक दिखा दी गई है। इसका विस्तार छोटे अध्याय में है; परंतु पहले श्लोक में जिज्ञासा व्यक्त करने वाले अर्जुन की सभी जिज्ञासाओं का समाधान कर श्रीकृष्ण अपनी पराकाष्ठा पर उनतीसवें श्लोक में पहुँचते हैं, जहाँ वे अपने भक्त की परिभाषा बताते हैं-अपनी विशेषताएँ बताते हैं व भगवत्प्राप्ति से ही शांति मिलती है, यह समझाते हैं। यहीं पाँचवाँ अध्याय समाप्त हो जाता है पर व्याख्या का क्रम जारी है क्योंकि ध्यान योग की पूर्व भूमिका बन चुकी है। वह अगले छठें अध्याय में भी जारी रहती है। किंतु यहाँ पाँचवे अध्याय का समापन करते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥





अध्याय-६
अथ षष्ठोऽध्यायः
आत्मसंयम योग



संकल्पों से मुक्ति मिले तो योग सधे

जीवन जीने की शिक्षण संदर्शिका

श्री गीताजी के प्रथम छह अध्याय कर्मयोग प्रधान हैं, यह तथ्य सभी जनते हैं। फिर भी योगेश्वर स्थान-स्थान पर ज्ञान व भक्ति की महिमा बताते चलते हैं। योगत्रयी का गुंथन-पारस्परिक समन्वयात्मक प्रतिपादन जिस सुंदर ढंग से हुआ है, उसमें ही इस काव्य की विशेषता है। हर व्यक्ति के लिए इन श्लोकों व उनकी व्याख्या के माध्यम से जीवन जीने का विधिवत मार्गदर्शन है। अर्जुन युद्धक्षेत्र में जब श्रीकृष्ण का शिष्यत्व स्वीकार कर लेता है (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्-२/७) तब श्रीकृष्ण उसे उपदेश देते हैं। 'ततो युद्धाय युज्यस्व' कहकर वे उसे बार-बार कर्मयोग में तत्पर होने को कहते हैं, तो क्या युद्ध ही एकमात्र कर्म है। भगवान् अर्जुन के माध्यम से कर्मों का जीवन में महत्त्व, कर्म-अकर्म-विकर्म की व्याख्या, दिव्यकर्मियों के लक्षण, युगधर्म के अनुरूप कर्म-यज्ञरूपी सत्कर्म तथा माहात्म्यपरक विस्तृत विवेचन हम सभी जनसामान्य स्तर के जिज्ञासु साधकों के लिए प्रस्तुत करते हैं। पहले से पाँचवें अध्याय की यात्रा में उन्होंने केवल 'स्थितप्रज्ञ' की विस्तार से व्याख्या की है, सृष्टि की उत्पत्ति, यज्ञ एवं यज्ञीय जीवन का महत्त्व तथा ज्ञान से मिलने वाली परम शांति का बोध भी कराया है। अब कर्मयोग की पराकाष्ठा पर योगेश्वर 'आत्म-संयमयोग' नामक ब्रह्मविद्या के योग शास्त्र की व्याख्या पर आते हैं। बिना संयम सधे न अर्जुन साधक बन पाएगा, न दिव्यकर्मी बन सकेगा। हम सभी को आत्मसंयम का मर्म समझने हेतु युद्धभूमि में दोनों सेनाओं के बीच खड़े श्रीकृष्ण बड़ा सरस प्रतिपादन प्रस्तुत करते हैं।

संयत मन की महिमा का योग

इस छठे अध्याय में कहीं भी श्रीकृष्ण ने युद्ध की चर्चा नहीं की है, पर युद्ध तो वही कर सकता है, जो एकाग्रचित्त हो, संयत मन वाला हो, बलशाली हो तथा समबुद्धि से सब कुछ देखता हो। जीवन संग्राम

भी ऐसे ही व्यक्ति जीतते हैं। जीवन जीने की कला की धुरी है— आत्मसंयम योग। जीवन को हर पल-हर श्वास में कैसे जिया जाए, इसकी व्याख्या है इस अध्याय में। अर्जुन इस अध्याय में श्रीकृष्ण को दो बार टोकता है, अपनी जिज्ञासाएँ सामने रखता है। एक प्रकार से वे हम सबकी जिज्ञासाएँ भी हैं। उसे सम्यक् समाधान मिलता है— जीवन जीने की दृष्टि मिलती है एवं “यो मां पश्यति सर्वत्र....स च मे न प्रणश्यति” (६/३०) जैसे सुविख्यात आश्वासन के साथ उसे तपस्वी एवं योगाभ्यासी में अंतर जानने को मिलता है। योगीजनों में, दिव्यकर्मियों में भी श्रीकृष्ण को भक्तिमार्ग पर चलने वाले ज्यादा प्रिय है, यह भी अंतिम श्लोक में उद्घाटन होता है।

‘आत्मसंयम योग’ नामक इस अध्याय में कर्मयोग के विषय व योगारूढ़ पुरुष के लक्षण बताए गए हैं। साथ ही आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा एवं भगवत्प्राप्त पुरुष की विशिष्टाएँ भी बताई गई हैं। ध्यान योग की विस्तार से व्याख्या है। कैसे ध्यान किया जाए? कैसे विचारों का सुनियोजन हो, मन का निग्रह कैसे सधे? यह चर्चा इस अध्याय में बड़े स्पष्ट रूप में प्रस्तुत की गई है। ध्यान में उसकी क्या स्थिति होती है, यह समझाकर वे ध्यान योग की महिमा बताकर समापन कर देते हैं। संक्षेप में यह है, इस सैंतालीस श्लोक वाले एक महत्त्वपूर्ण अध्याय की सिनॉप्सिस।

इस अध्याय में हम प्रवेश कर रहे हैं, तो पहले इसके मर्म को समझ लें। यहाँ विचार जल्दबाजी में, युद्ध की मनोभूमि में व्यक्त नहीं किए गए हैं, अपितु बड़ी शांति के साथ, धीरे-धीरे बुद्धि संस्थान में स्थापित किए गए हैं। इस अध्याय को समझ लेने वाले को फिर एक दिव्यकर्मी, श्रेष्ठ योगी बनने में कोई संशय नहीं रहता। कई भ्रांतियाँ भी ध्यान के विषय में इस अध्याय के द्वारा निर्मूल की गई हैं। अपने प्रिय शिष्य के प्रति श्रीकृष्ण का भाव इस अध्याय में पूर्व में डाँट लगाने वाले

गुरु का नहीं है, अपितु बड़े ही प्रेमपूर्वक शांतिभाव से उन्होंने अर्जुन को समझाने का प्रयास किया है। जब पहले व दूसरे अध्याय में उसके मन का विषाद निकला था, तब श्रीकृष्ण को डाँट लगानी पड़ी थी, वे झल्ला पड़े थे, पर यहाँ केवल पार्थ को ही नहीं, हम सबकी मानसिक दुर्बलताओं को लक्ष्य कर बड़े विस्तार से (मात्र सूत्र रूप में नहीं) तथा स्नेहभाव से उसका समाधान खोज निकालते हैं। वे बताते हैं कि समस्त भ्रांतियों का, मन की चंचलताओं का समाधान ध्यान है। यदि ध्यानयोग भली-भाँति समझ लिया, आहार-विहार के नियमों का पालन किया, भगवद्भक्ति का आश्रय लिया, तो लोक-परलोक दोनों ही ठीक बने रहेंगे। ध्यान की धुरी है-अपने आप पर अपना ही संयम।

एक सच्चे योगी की परिभाषा

इस अध्याय का शुभारंभ एक सच्चे योगी, आध्यात्मिक जीवन जीने वाले दिव्यकर्मी की परिभाषा से होता है। त्रिपुंडधारी, खड़ाऊँ पहनकर, भाँति-भाँति के ढोंग रचकर, भगवे कपड़े पहनने वाला संन्यासी नहीं बन जाता, यह तथ्य समझाते हुए श्रीकृष्ण संन्यासी योगी की परिभाषा अपने प्रिय शिष्य को बताते हैं। पहला श्लोक (६/१) इस प्रकार है-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः ॥

अब इसका शब्दार्थ देखें-

श्री भगवान् ने कहा (श्रीभगवानुवाच) जो (यः) कर्म के फल का (कर्मफलं) आश्रय न करके (अनाश्रितः) कर्तव्य-कर्म (कार्यं कर्म) करते हैं (करोति), वह (सः) संन्यासी (संन्यासी च) और योगी भी हैं (योगी च); वैदिक कर्मत्यागी नहीं (न निरग्रिः), शारीरिक कर्मत्यागी भी नहीं (न च अक्रियः)।

भावार्थ इसका हुआ-

“जो कर्म के फल की अपेक्षा न रखकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करते हैं, वहीं संन्यासी हैं और वही योगी हैं, किंतु जो यज्ञ-होम आदि अग्नि में आहुति देने के कार्यों का त्याग करते हैं और जो लौकिक दृष्टि से परोपकार के कार्य भी नहीं करते, वह संन्यासी मानने योग्य नहीं हैं।”

श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि जो कर्मफल त्यागी होकर शास्त्रविहित कर्म करते हैं-वही संन्यासी हैं, किंतु जिनने वैदिक होम-यागादि कर्म छोड़ दिए हैं। साथ ही लौकिक परोपकार के कार्य को नहीं करना चाहते, वे संन्यासी नहीं कहलाते। कर्मफल त्याग ही संन्यासी या दिव्यकर्मी योगी के लिए प्रथम साधन है। इस प्राथमिक शर्त के पूरा होने पर ही किसी को संन्यासी कहा जा सकता है। सब कार्य छोड़कर दंड-कमंडल धारण करने मात्र से ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता।

पलायनवाद के विरुद्ध

अर्जुन के मन में दुविधा है। वह सोचता है कि कभी श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्मयोग से जीवन लक्ष्य की सिद्धि कहते हैं एवं कभी कहते हैं कि संन्यास से जीवनलक्ष्य की सिद्धि होती है। फिर कर्मयोग में लगने से क्या लाभ है? युद्ध करने से क्या फायदा? इससे तो अच्छा संन्यास ही ले लिया जाए। अर्जुन भिक्षाजीवी होना पसंद करता है, पर युद्ध को घोर व न करने योग्य कर्म कहता है। वह पलायनवादी बनना चाह रहा है। यह तो संन्यास नहीं है। सही अर्थों में संन्यास तब होता है, जब कर्मयोग करते-करते मनुष्य अकर्म की स्थिति में चला जाए, ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित हो जाए। कुछ ऐसे सिद्ध होते हैं कि पूर्वजन्मों के अपने प्रारब्ध अर्जित सिद्धियों के कारण कम उम्र में ही संन्यास में प्रवृत्त हो जाते हैं, यथा- आद्य शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद। ऐसे लोग काम पूरा होते ही शरीर छोड़ देते हैं। सही अर्थों में यही संन्यासी हैं।

युगगीता

133

आज तो हमारा देश बाबाओं का अखाड़ा बना हुआ है। पूज्यवर ने १९७० में ट्रैक्ट्स की शृंखला लिखी थी, उनमें एक थी “ब्राह्मण जागें, साधु चेतें।” इसमें उन्होंने क्रांतिकारी चिंतन प्रस्तुत किया था। ऐसी लगभग सौ किताबें थीं। इस पुस्तिका में उन्होंने बाबाजी लोगों की संख्या छप्पन लाख लिखी थी व लिखा था कि मात्र यही लोग विद्याविस्तार, ग्रामोत्थान, स्वावलंबन, राष्ट्रधर्म में प्रवृत्त हो जाएँ, तो भारत को पुनः सोने की चिड़िया बनाया जा सकता है। एक विकल्प के रूप में उन्होंने वानप्रस्थियों-परिव्राजकों का तंत्र खड़ा किया। १९७० में जो संख्या संन्यास वेशधारी लोगों की थी। अब वह निश्चित ही १ अरब डेढ़ अरब के इस देश में डेढ़ करोड़ पार कर चुकी होगी। होगी क्यों नहीं? अकर्मण्यता के साथ सबेरे-शाम का अन्नक्षेत्र में भोजन, कौन नहीं स्वीकार करेगा? सब ऐसे हैं, यह नहीं कहा जा रहा, पर नब्बे प्रतिशत से अधिक ऐसे हैं, जो पलायनवादी होकर इस राह पर चले हैं। धर्मतंत्र के नाम पर यह कितना बड़ा छलावा है।

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने कहा कि आज कलियुग की पराकाष्ठा की परिस्थितियों में संन्यास नितांत अव्यावहारिक है। सौ वर्ष पूर्व हो सकता है, वह प्रासंगिक रहा होगा। आज नवयुग का संन्यास परिव्राजक धर्म है। आज का समाज अध्यात्म एवं विद्याविस्तार की इस समुदाय से अपेक्षा रखता है। जन-जन तक ब्राह्मणत्व के विस्तार की अपेक्षा रखता है। पूज्यवर ने ब्राह्मण के दो धन बताए हैं। तप और विद्या। तपस्वी बनें, संयमी बनें, विद्या का विस्तार करें, योग महाविद्या को जन-जन तक पहुँचाकर जीवन जीने की कला सिखाएँ।

निरग्नि: का मर्म

यहाँ श्लोक में उद्धृत कुछ शब्द स्पष्ट कर दें। ‘निरग्निः’ शब्द का अर्थ है अग्नि का परित्याग करने वाला। चूँकि कर्म का प्रतीक है

अग्नि, संन्यासी अग्नि से जुड़े कर्मकांड नहीं करते। वे यज्ञ नहीं करते एवं अग्नि का पका नहीं खाते। यज्ञ कर्म की अविरल धारा का प्रतीक है। पहले जो गृहस्थ होते थे, उनके घर गार्हपत्याग्नि होती थी। उसे साथ लेकर चलते थे। हवन नित्य करते थे। देवताओं और मनुष्य के बीच की कड़ी यज्ञ है। सृष्टि संचालन के एक घटक के प्रतीक के रूप में यह विद्या थी। संन्यस्त होते ही व्यक्ति ब्राह्मी स्थिति में पहुँच जाता है। परमात्मसत्ता में अवस्थिति के लिए अग्नि की जरूरत नहीं है। इसी कारण विधिवत संन्यास में दीक्षित व्यक्ति अग्नि से जुड़े वैदिक कर्मकांड संपन्न नहीं करते। “च अक्रियः” शब्द के माध्यम से श्रीकृष्ण इसी श्लोक में कहते हैं कि केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला भी योगी नहीं है। कर्मयोग मूल धुरी है। अकर्म की स्थिति में तो साधक बहुत आगे चलकर पहुँचता है, पर संन्यासी सच्चा है, तो वह अकर्म की स्थिति में जा पहुँचता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो युगधर्म का पालन करता है, घर-घर जाकर ज्ञान बाँटता है, कर्म के फल की आकांक्षा न रखकर सतत कर्मशील क्रियाशील बन परोपकार करता रहता है, वही सच्चा योगी है। ऐसे योगी ही सच्चे संन्यासी कहलाने योग्य हैं। मात्र कर्मकांडों तक सीमित रह अग्नि व कर्म छोड़ देने वाला किसी भी स्थिति में संन्यासी नहीं कहा जाना चाहिए। न यह मानना चाहिए कि ऐसा संन्यास लेने से हमारा कल्याण हो जाएगा। कल्याण तो दूर, आत्मा का पतन और होगा।

अनासक्त ही संन्यासी

योगेश्वर श्रीकृष्ण की स्पष्ट मान्यता है कि कर्म ज्ञान का सूक्ष्मतम रूप है। कर्म से ऊपर उठकर ज्ञान में स्वयं को स्थापित कर देना होता है। अर्जुन को वह समझाते हैं कि युद्ध छोड़कर (कर्म छोड़कर) चले गए, गेरुए वस्त्र पहन लिए, अग्नि से परहेज कर लिया, तो भी संन्यासी

नहीं कहलाओगे। संन्यासी की परिभाषा है-वह दिव्यकर्म, जिसकी कर्मफल में आसक्ति नहीं है। वह सतत औरों के लिए परमार्थरत हो कर्म करता रहता है। अर्जुन की अज्ञान की जड़ पर भगवान् बार-बार कुठाराघात करते हैं। उसे समझाते हैं कि संन्यास ले लेने मात्र से, उसे युद्ध से, रक्तपात से, कौरवों से, निंदा से, अपयश से, द्रौपदी के तानों से, विभिन्न प्रकार से होने वाली लोक भर्त्सना से मुक्ति नहीं मिलेगी। क्यों? क्योंकि भगवान् का, कर्मफल का अकाट्य सिद्धांत सब जगह लागू होता है। जब तक अर्जुन श्रीकृष्ण के समक्ष है, वे बार-बार उसे आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहने का शिक्षण देते हैं। यह बता रहे हैं कि असली संन्यास आंतरिक है, बाह्य नहीं। जिसने अपने मन के वासनामूलक संकल्पों का त्याग नहीं किया, वह योगी नहीं हो सकता। कर्म तो किसी भी स्थिति में करना ही होगा। कर्म ही मुक्ति के, ब्रह्मनिर्वाण के कारण बनेंगे। आंतरिक संन्यास के निरंतर अभ्यास के साथ-साथ कर्म करते रहने से वासनात्मक मन और निम्न प्रकृति पर आसानी से विजय प्राप्त की जा सकती है।

इसी प्रतिपादन को आगे बढ़ाते हुए भगवान् अगले श्लोक में कहते हैं-

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ६/२

इसका शब्दार्थ पहले देखते हैं-

“हे अर्जुन! (पाण्डव) जिसे (यं) (पंडितलोग) संन्यास शब्द से कहते हैं (संन्यास इति प्राहुः) उसी को (तं) (तू) योग रूप से जानना (योगं विद्धि) क्योंकि (हि) फल का संकल्प न छोड़ने से (असन्न्यस्त संकल्पः) कोई भी (कश्चन) योगी (योगी) नहीं बन जाता (न भवति)।” कितना स्पष्ट अर्थ है-

भावार्थ हुआ-“हे अर्जुन ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को तू योग रूप में जान, क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसने संकल्प का त्याग न किया हो, योगी नहीं हो सकता।” ६/२

संकल्पों का त्याग

संन्यास को योग मानकर संकल्पों का त्याग करने वाला ही सच्चा कर्मयोगी-दिव्यकर्मी बनता है, यह श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है। संन्यास और कर्मयोग दोनों एक-दूसरे का पोषण करते हैं, जब मनुष्य अपना ‘अहं’ त्याग देता है, तो वह ‘संन्यास’ के माध्यम से एक श्रेष्ठ योगी बनने की दिशा में आगे बढ़ता है। जब वह निस्वार्थ भाव से किए गए कर्मों को संपन्न करता है, कर्मफल की आकांक्षा ही त्याग देता है, तो वह सच्चा कर्मयोगी बन जाता है। आकांक्षाओं-इच्छाओं-संकल्पों को त्याग देने वाला अपने अहं के ढाँचे को गिराकर सच्चा योगी बनने की दिशा में आगे बढ़ता है।

संकल्प और ‘संकल्पशक्ति’ अलग-अलग शब्द हैं। संकल्पशक्ति अर्थात् आत्मबल-मनोबल-इच्छाशक्ति। यहाँ ‘संकल्प’ से योगेश्वर का आशय है, सकाम कर्म। जिन कर्मों से इच्छाएँ जुड़ जाएँ, वह संकल्प बन जाता है। हमें इतना मिल गया, उतना और मिल जाए। इच्छाएँ-संकल्प कभी मिटते नहीं, कभी पूरे होते नहीं। पहले संकल्पों को हम पालना बंद कर दें। जो भी लें, अणु व्रत लें। उसे पूरा करें। उसके निभते ही संकल्पशक्ति बढ़ती चली जाएगी। हमने कामनाओं-महत्वाकांक्षाओं-संकल्पों का जखीरा अपने अचेतन में बिठा रखा है। यही हमें बार-बार जीवनयात्रा में तंग करता है। संन्यास लेना है, तो वेशभूषा वाला नहीं, संकल्पों से मुक्ति वाला लें।

भावी सुखों के स्वप्नों से बाहर आएँ

भारतीय मनोविज्ञान में प्रयुक्त यह संकल्प शब्द बड़ा ही भावपूर्ण एवं व्यापक अर्थ लिए हुए है। मनुष्य शेखचिल्ली की तरह भावी सुखों की संभावनाओं के विषय में सोचता है। उसके बाद उन स्वप्नों को मजबूती से पकड़े रहता है। उन्हें पूरा करने के लिए वह जी-जान से श्रम करता है। उसके मन की इसी तल्लीनता को 'संकल्प क्रीड़ा' नाम दिया गया है। जब तक हमें कामनाएँ-वासनाएँ तंग करती रहेंगी, मन कभी भी शांत होकर, लक्ष्य के प्रति समर्पित नहीं हो सकता। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसने अपने संकल्पों-सकाम इच्छाओं-ऐषणाओं का त्याग नहीं किया है, वह कभी भी दिव्यकर्म नहीं बन सकता, एक श्रेष्ठ लोकसेवी, सम्मानित कार्यकर्ता नहीं बन सकता। कभी भी एक योगी नहीं बन सकता। लोग भाँति-भाँति की योजनाएँ बनाते रहते हैं और अपने कर्मों का फल भोगने की उत्सुकता में उस इच्छा के साथ कि फल कब मिलेगा, अशांत बने रहते हैं। ऐसा व्यक्ति कभी भी योगी नहीं बन सकता, हो सकता है तप का दिखावा वह कर लेता हो, पर मन से योगी बनना अत्यंत अनिवार्य है।

ध्यान की प्रक्रिया आरंभ हो, इसके पूर्व मन को शांत करने की जो प्रणाली श्री गीताजी के माध्यम से योगेश्वर ने अपनाई है, वह अनूठी है। इतिहास में अपने आप में एक ही है। ध्यान ऐसे ही नहीं हो जाता। उसके लिए पहले योगी बनना होता है, संकल्पों को त्यागना होता है। मन स्वतः नहीं चुप होगा, उसे निग्रह की स्थिति में लाना होगा। यह और कोई नहीं करेगा, हमें स्वयं ही करना होगा। यही संदेश प्रथम दो श्लोकों का है।



योगारूढ़ होकर ही मन को शांत किया जा सकता है

पूर्व भूमिका

सच्चे संन्यासी-कर्मयोगी एवं मात्र आडंबर रचने वाले तथाकथित वेशधारियों के मध्य अंतर हम समझ सकें तथा आकांक्षाओं-कामनाओं का त्याग कर सही अर्थों में योगी बनें, यह मर्म प्रथम दो श्लोकों का है। योग में आरूढ़ हुए बिना कोई संन्यस्थ नहीं हो सकता। बार-बार पैदा होते रहने वाली इच्छाओं से-मनोकामनाओं से मुक्ति मिले, तो योगी बनने हेतु मनःस्थिति बने। हमारा संकल्प एक ही हो कि हमारे व ईश्वर के संकल्प मिल जाएँ। दोनों मिलकर एक हो जाएँ। ईश्वर का, नवयुग के प्रज्ञावतार का, हमारे इष्ट-आराध्य का एक ही संकल्प है-युग-परिवर्तन। यदि हम आत्मनिर्माण से, युग के नवनिर्माण की दिशाधारा से इतर सोच रहे हैं, तो फिर हम ईश्वरीय धारा से अलग चल रहे हैं। परमपूज्य गुरुदेव ने जीवन भर एक ही बात कही कि तुम हमें मानते हो, तो हमारे संकल्प से जुड़ जाओ। “हमारा संकल्प” अर्थात् ईश्वरीय संकल्प-युग निर्माण योजना, प्रज्ञा अभियान, युग-परिवर्तन, इक्कीसवीं सदी में नारी शक्ति का, संवेदना का अभ्युदय, सतयुग का आगमन। हर श्वास हम इसी संकल्प की पूर्ति हेतु जिएँ।

यदि हम गुरुसत्तारूपी भगवान् के प्रमुख पार्षद के एक छोटे से अंश हैं, तो हम अपनी जिम्मेदारी समझ सकते हैं। यदि हम अपनी गुरुसत्ता को भगवान् की कंपनी का मैनेजिंग डायरेक्टर मान लें, तो स्वयं को उस कंपनी का एक छोटा-मोटा कारिदा-गुमाश्ता तो मान ही सकते हैं। वैसे ही यदि बन जाएँ, अपने संकल्पों को गुरुसत्ता के संकल्पों के साथ जोड़ लें, तो हमें अपना युगधर्म समझ में आ जाए। आज के युग का धर्म है समग्र समाज का अभिनव निर्माण, सारे समाज का अध्यात्मीकरण, विश्व-वसुधा को गायत्रीमय बना देना। इसके लिए कर्मयोगी बनकर अपनी सारी आसक्ति को, सुखों की चाह को,

युगगीता

139

आकांक्षाओं को, मनोकामनाओं को प्रभु के चरणों में समर्पित कर जीना होगा। हर क्षण यही भाव रहे कि हम परमात्मा के लिए कर रहे हैं, अपने लिए नहीं। हमारे संकल्प भगवान् को अर्पित हो जाएँ, यही प्रभु चाहते हैं। हम निष्काम कर्मयोगी बन जाएँ।

हर गुरु प्रभु-समर्पित कर्म चाहता है

भगवान् अर्जुन से यह अपेक्षा क्यों रख रहे हैं, बार-बार यह बात क्यों कह रहे हैं? इसलिए बार-बार जोर दे रहे हैं कि अर्जुन के प्रारब्ध कट जाएँ। हर गुरु अपने-अपने समय में अपने शिष्य के हित हेतु ऐसा कहता व करता है। प्रारब्ध व्यक्ति को काटने ही पड़ते हैं। कष्ट भोगने ही पड़ते हैं; किंतु अच्छे कर्म करके, सतयुगी पुरुषार्थ में भागीदारी करके जल्दी काटे जा सकते हैं। जो कर्म हम कर चुके और जो अभी पके नहीं, जिनका अभी प्रारब्ध व संचित के रूप में संस्कार नहीं बना, उनको तो निष्काम कर्म करके प्रारब्ध बनने से रोका जा सकता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं, योगेश्वर कहते हैं- निष्काम कर्म करता चल। तेरे संचित और क्रियमाण कर्म कटते चले जाएँगे। तेरा यह लोक भी, परलोक भी सुधर जाएगा।

जीवन जीने के क्रम में हमें भाँति-भाँति के दुःखों-कष्टों से गुजरना होता है। उच्चस्तरिय, सद्गुरु स्तर की सत्ताएँ जानती हैं कि विगत जीवन में, विगत जन्मों में किए गए कर्मों की विधि-व्यवस्था के कारण यह शरीर मिला है, कष्ट भोगना तो पड़ेगा ही। परम पूज्य गुरुदेव ने हम सबसे कहा था कि अपने तप व आशीर्वाद से हम तुम्हारे पापों का, प्रारब्ध का जखीरा नष्ट कर देंगे। यह गुरु का सदैव शिष्य को आश्वासन है, पर है यह एक शर्त पर, वह यह कि हम इसके बदले गुरु का कार्य करें, युगधर्म में स्वयं को नियोजित करें, कुछ कष्ट सहना पड़े, तो उसे तप मान लें। वैसे न जाने कितना भोगना पड़ जाता, पर हमारा सौभाग्य कि हम सद्गुरु से जुड़े। हमारे कष्ट थोड़े में टल जाएँगे, प्रारब्ध

भी कट जाएँगे। दिव्यकर्म होने के कारण संचित-क्रियमाण का अनुपात घटेगा। पाप होंगे ही नहीं, तो मोक्ष सुनिश्चित है। कर्म का यह विधान समझना, निष्काम कर्मयोगी बनना एवं अच्छे कर्मों का अपना फिक्सड डिपॉजिट बढ़ाते चलना, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

‘मैं’ पन छोड़ें व साधक बनें

अभी हमारी पहले दो श्लोकों की व्याख्या ही चल रही है। भगवान् संकल्पों से (कामना-आकांक्षाओं-इच्छाओं से) मुक्ति चाहते हैं एवं एक आदर्श शिष्य को सच्चा मार्गदर्शन कर रहे हैं कि यह जीवन मिला ही श्रेष्ठ कर्मों को करने के लिए है। श्रेष्ठ के खतरे में वृद्धि करते रहिए एवं अपने पाप-कर्मों को, प्रारब्ध-संचित को काटते चलिए। यही जीवन की रीति-नीति हमारी होनी चाहिए। हमारा हर कार्य ईश्वर-समर्पित हो। जीवन-व्यापार को ईश्वरीय स्वरूप मानकर करें। कहीं भी अपना ‘मैं’ पन, निजी इच्छा-आकांक्षा को न जोड़ें। योग मनोविज्ञान की एक बड़ी जटिल व्यवस्था को वे अर्जुन के समक्ष रखना चाह रहे हैं; ताकि वह आत्मसंयम, ध्यानयोग का मर्म समझ सके। अभी दोनों श्लोकों का प्रतिपादन संन्यास संबंधी भ्रांतियाँ मिटाने, दिव्यकर्मों के लक्षणों को बताने के लिए एवं यह समझाने के लिए किया गया है कि जिसने संकल्पों का त्याग न किया, वह योगी नहीं हो सकता (असंन्यस्त संकल्पः कश्चन योगी न भवति) यदि संकल्प रखता है तो वह भ्रष्ट होकर पुनर्जन्म प्राप्त करता है एवं जब तक सारी इच्छाएँ मिट नहीं जातीं, निरंतर जन्म लेता रहता है। पूर्णतः बंधन-मुक्ति का पथ प्रभु यहाँ समझा रहे हैं एवं चाह रहे हैं कि अर्जुन इस तथ्य को समझ ले।

एक बानगी

एक घटनाक्रम इसी संदर्भ में, जो इस युग का ही है, यहाँ बताने का मन है। प्रसिद्ध उद्योगपति एवं बिड़ला परिवार के आदि संस्थापक

श्री जुगल किशोर जी बिड़ला के परिवार में एक बालक जन्मा। उसने आगे चलकर एक डायरी लिखी। यह बालक प्रतिभा की दृष्टि से विलक्षण था एवं उसने आदित्य बिड़ला ग्रुप नाम से एक भरा-पूरा संगठन खड़ा किया। उसकी मुंबई-बैंगलोर फ्लाइट के क्रैश (हवाई दुर्घटना) में मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद उसकी डायरी पाई गई। डायरी का यह अंश उन दिनों प्रचलित सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ, जो कि उस पत्रिका का संयोग से अंतिम अंक था। मृत्यु के समय उसकी आयु ३२-३३ वर्ष की रही होगी। उस डायरी में उसने लिखा था, "अब मुझे अहसास हो रहा है, जाग्रति की अनुभूति हो रही है कि मैं पूर्वजन्म का संन्यासी हूँ। अमेरिका के रामकृष्ण मिशन में मैं पूर्वजन्म में सक्रिय रहा हूँ। वहाँ काम करते-करते संन्यास लेने के बावजूद मेरे मन में एक लड़की के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। मैंने बहुत सोचा कि उसके बारे में न सोचूँ। फिर मैंने शरीर छोड़ दिया। पूर्वजन्म के संस्कारोंवश मेरा इस परिवार में पुनः जन्म हुआ। अब मैं इंग्लैंड में पढ़ने आया हूँ, तो ठीक उसी शक्ल-सूरत की एक लड़की से मेरी मुलाकात हुई। क्या यह मेरी जीवनसाथी बन सकेगी?" डायरी यहाँ मूक हो जाती है। परिवार के लोगों ने उनका विवाह कहीं और किया एवं दोनों पति-पत्नी क्रैश में मारे गए। उन्हीं की संतान अब उनका विशाल तंत्र चला रही है। वे डायरी में यह भी लिखते हैं, "मैं कर्मों का भोग भोगने आया हूँ। संन्यासी होने के नाते मेरी मुक्ति हो जानी चाहिए थी। शायद अभी और कष्ट भोगना भाग्य में लिखा है।"

भोग छूटा तो ज्ञान जन्मा

पूर्वजन्म के तप ने उस साधक को एक धनीमानी परिवार में कर्मयोगी के रूप में जन्म दिलवाया। जैसे-जैसे भोग छूटा, ज्ञान का उदय होता गया। किसी भी सामान्य व्यक्ति को अनायास ही पूर्वजन्म की स्मृति आने लगे व उसे आभास होने लगे कि वह कौन है और वह

कब संसार से जाने वाला है, यह ज्ञान उसे हो चुका, ऐसा मान लेना चाहिए। परमहंस की स्थिति के लोग अपने विषय में जानते हैं, पर कभी-कभी ही जगजाहिर करते हैं। परम पूज्य गुरुदेव को तीन जन्मों की जानकारी उनकी अदृश्य सूक्ष्म शरीरधारी सत्ता ने दी। जो राम था, कृष्ण था, वही रामकृष्ण बनकर आया है, यह श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा था। ऐसे परमहंस अपने महानिर्वाण का दिन भी तय कर लेते हैं और स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करते हैं।

यह सुनिश्चित है कि पूर्वजन्म की कर्मवासना एवं संकल्पों के अनुसार भावी जीवन के संस्कार तय होते हैं। योग पर आरूढ़ होकर ही, निष्काम भाव से कर्म करते हुए ही व्यक्ति बंधन-मुक्त हो सकता है, नहीं तो चौरासी लाख योनियों का फेर है ही। यदि यह तथ्य समझ में आ जाए, तो हमारे सभी कर्म स्वतः निर्मल होते चले जाएँगे एवं हम मोक्ष को प्राप्त हो जाएँगे। संकल्पों से निवृत्ति की चर्चा श्रीकृष्ण इसीलिए कर रहे हैं। पुनर्जन्म एवं संकल्पों-वासनाओं से जुड़े रहने की परिणति की व्याख्या इसी अध्याय में आगे ४१-४४ क्रमांक के श्लोकों में विस्तार से हुई है। तब उसे वहाँ दृष्टान्तों के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे। अभी यहाँ अध्याय ६ के तीसरे व चौथे श्लोक की व्याख्या की ओर बढ़ते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषजते ।

सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

पहले शब्दार्थ देखते हैं-

“ज्ञानयोग में (योगं) आरोहण करने के इच्छुक (आरुरुक्षोः) मुनि के लिए (मुनेः) निष्काम कर्म (कर्म) कारण कहा जाता है (कारणम् उच्यते)। योगमार्ग में आगे बढ़े होने के कारण इनके लिए।

(योगारूढस्य तस्य एव) कर्म निवृत्ति (शमः) को ज्ञान की पूर्णता प्राप्ति का सहायक (कारण) कहा गया है (उच्यते)।”

जब (जिस समयावधि में) (यदा) सब प्रकार के संकल्प छोड़ने वाले साधक अर्थात् इहलोक व परलोक में सुखभोग की वासना त्यागने वाले (सर्वसंकल्पसंन्यासी) रूप-रसादि इंद्रिय भोग्य विषयों में (इंद्रियार्थेषु) आसक्त नहीं होते (न अनुषजते), उनके साधनरूप कर्मों में भी आसक्त नहीं होते (कर्मसु च न) तब (तदा) उन्हें योग में प्रतिष्ठित (योगारूढः) कहते हैं (उच्यते)।

अब तीसरे व चौथे श्लोकों का भावार्थ देखते हैं-

“योग में आरूढ़ होने की इच्छा रखने वाले साधक के लिए प्रभु-समर्पित कर्म ही एकमेव साधन हैं। ऐसा होने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों के अभाव वाला भाव है, वह उसके लिए शांतिप्रदाता, कल्याणकारी होता है (श्लोक ३, अध्याय ६)। जब व्यक्ति (जिस काल अवधि में) विषय-भोगों और कर्मों में आसक्त नहीं होता, उस काल में उसे (तब ही) एकाग्र-योग में आरूढ़-त्यागी पुरुष माना जाता है। (श्लोक ४, अध्याय ६)।”

एकाग्रता का अभ्यास

अब यहाँ इन दो श्लोकों में कही गई बातों के मर्म को समझना जरूरी है। हर व्यक्ति एकाग्र होकर ध्यान करना चाहता है। यह आत्मा की प्यास है। बहुचित्तीय (पॉली साइकिक) मन वाला मनुष्य योगारूढ़ हुए बिना एकाग्रता को साध नहीं सकता। एकाग्रता का अर्थ मन-चित्त की निश्चलता नहीं है। सभी बाधक-विरोधी विचारों को परे हटाकर समग्र मन (क्लेक्टिव माइंड) द्वारा किसी एक ही विषय के चिंतन की विधि ही ध्यान कहलाती है। मन को खुला छोड़ देते हैं तो अनगढ़-कुसंस्कारी अवचेतन मन के कारण अस्थिरता ही दिखाई देती है।

मनोयोग-तत्परता-एकाग्रता-तल्लीनता जैसी उपलब्धियाँ नहीं मिल पातीं। मन की निरर्थक भाग-दौड़ को नियंत्रित करने एवं उसे एक ही विषय पर केंद्रित करने के लिए एकाग्रता की शक्ति हर साधक को अभीष्ट है। तब ही तो मन शक्तिशाली संकल्पहीन बन पाएगा।

श्रीकृष्ण तीसरे श्लोक में कहते हैं कि एकाग्रता की प्राप्ति के लिए कर्मयोग साधन है, किंतु इसे क्रमशः विकसित करते हुए इसका व्यावहारिक प्रयोग आत्मा पर गहन ध्यान लगाने के रूप में किया जाना चाहिए। 'शम' अर्थात् मन की शांति-मन को चुपकर एक ही भाव में तल्लीन कर लेना। मन की शांति के बिना योगारूढ़ नहीं हुआ जा सकता। जब मन कामनाओं के दबाव से मुक्त हो जाता है, उसकी भोग-वासना की इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं, तो इसे कहीं भी केंद्रित कर मनवांछित आध्यात्मिक सफलताएँ अर्जित की जा सकती हैं, अतीन्द्रिय क्षमताओं को जाग्रत किया जा सकता है।

योग पर आरूढ़ साधक

श्री भगवान् ने 'आरूढ़' होना अर्थात् सवारी करना शब्द जान-बूझकर प्रयुक्त किया है। योग पर आरूढ़ अर्थात् योग के घोड़े पर सवार साधक। वीर अर्जुन को युद्धक्षेत्र में इससे सुंदर और क्या समझाया जा सकता है। "यथा स्थान तथा शैली" का प्रयोग कर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो योग के घोड़े पर सवार होना चाहते हैं, उनके लिए निःस्वार्थ कर्म अति अनिवार्य हैं, सहायक हैं (कर्म कारणमुच्यते)। किंतु ऐसा हो जाने के बाद (योगारूढस्य तस्यैव) साधक हेतु आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचने हेतु 'शम' अर्थात् मन की शांति ही एकमात्र साधन है (शमः कारणमुच्यते)। एकाग्रता की उपलब्धि हेतु मन के विक्षेप के कारणों को हटाया जाना जरूरी है।

मनोनिग्रह हेतु मानसिक विक्षोभ पैदा करने वाले अहंकार, अहंकेंद्रित कामनाएँ-वासनाएँ आदि कारणों से मुक्त होना पड़ेगा। निःस्वार्थ सेवाप्रधान समर्पित कर्मों के माध्यम से इन सभी कारणों का निवारण हो जाता है। कर्मयोग उन सभी लोगों के लिए एक साधन है, जो मन की एकाग्रता के लिए प्रयत्नशील हैं, ध्यानस्थ होना चाहते हैं, मनःशक्ति से कुछ कार्य करना चाहते हैं। एकाग्रता प्राप्त होते ही आध्यात्मिक साधक को अधिकाधिक मानसिक शांति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। मन की भटकन रुकेगी, तो ही शांति मिलेगी।

सफल ध्यान हेतु निष्काम योग

हर व्यक्ति आज के भोगवादी युग में मन की शांति चाहता है। सुख-साधनों का उपभोग करते हुए, अपने अहं को पालकर उससे नियंत्रित होते हुए यह शांति कभी मिलेगी नहीं। लोग उसे तलाशते भी इन्हीं चीजों के माध्यम से हैं। फलतः अतृप्ति-बेचैनी-तनाव-उन्माद ही हाथ लगते हैं। ध्यान का नाटक करने से क्या लाभ, यदि संकल्पों से, अहंकेंद्रित कामनाओं से मुक्ति नहीं मिल पाई। ध्यान तभी सफल है, जब वह मन को शांत कर दे। उसे भटकन से मुक्त कर दे। योग पर आरूढ़ होने के बाद समर्पित कार्य करना अनिवार्य है। प्रभु-समर्पित जीवन जिए बिना मन शांत नहीं हो सकता। सभी बातें-शर्तें एक दूसरे पर निर्भर हैं।

निष्काम कर्मों के परिणामस्वरूप चित्तशुद्धि होकर आत्मानुभूति होती है एवं ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं, “ज्ञान काँटे से अज्ञान काँटे को निकालना होता है, तब दोनों ही काँटे फेंक दिए जाते हैं। तत्पश्चात् तो ज्ञान व अज्ञान से परे ब्राह्मी स्थिति में पहुँचना अति सरल है।” योगारूढ़ होने के लिए शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार की वासनाओं को छोड़ना होगा। तनिक-सी भी रह गई, तो

मन अशांत बना रहेगा। ठाकुर श्री रामकृष्ण देव कहते हैं, “सूत में जरा-सा भी रेशा रहने से वह सुई के छेद में नहीं घुस सकता। उसी प्रकार मामूली-सी वासना भी हुई तो मन ईश्वर के चरण कमलों का ध्यान, उनमें लीन होने का भाव नहीं कर सकता।” अब प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे जाना जाए कि हमें पर्याप्त एकाग्रता मिल गई व हम योग आरूढ़ हो गए ?



उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्

एक ही राजमार्ग

योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है कि योगारूढ़ होकर मन को प्रभु में तल्लीन कर ध्यानस्थ हुआ जाए, तो मन को शांति मिल सकती है। ऐसी स्थिति में पहुँचा साधक फिर प्रभु-समर्पित दिव्य कर्म ही करता है। उससे जाने-अनजाने भी कोई गलत काम नहीं हो पाता। निष्काम कर्म ही ब्राह्मी स्थिति तक किसी साधक को पहुँचा पाते हैं। कर्मयोग-ध्यानयोग का एक अनूठा संश्लेषित प्रयोग अध्याय छह के तीसरे व चौथे श्लोक में वासुदेव बताते हैं। वे कहते हैं कि आध्यात्मिक पुरुषार्थ यदि व्यक्ति को करना हो, तो उसे योग पर सवारी करना अर्थात् योगस्थ होकर कर्म करना, मन पर नियंत्रण स्थापित कर उसकी शक्ति को पहचानना तथा उसे समस्त वासनाओं की ओर से शांत कर लेना सीखना चाहिए। जिसने यह सीख लिया, उसका जीवन सुख-भोग-भटकावों के बीच भी कभी अस्त-व्यस्त नहीं होगा, वह निर्लिप्त भाव से एक दिव्यकर्मी बन अपने जीवनपथ पर यात्रा को और सरल बना सकेगा।

अब यह जानना जरूरी है कि सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कब बनता है, कब उसे वह उच्चस्तरीय एकाग्रता मिल पाती है, जहाँ वह (आत्मा) परमात्मा से एकाकार हो सके? क्या कोई मदद बाहर से आती है या स्वयं ही पुरुषार्थ करना पड़ता है? यदि स्वयं ही करना होता है, तो किस स्तर पर उसे सक्रिय होना चाहिए? क्या मन इतना शक्तिशाली है कि वह सारे आकर्षणों से विरत होकर आत्मसत्ता को सच्चा साक्षात्कार करा सके? इन्हीं का उत्तर अगले श्लोक में आया है-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६/५

पहले शब्दार्थ देखते हैं—

विवेकयुक्त मन के द्वारा (आत्मना) जीवत्वाभिमानी बुद्धि को (आत्मनं) नीचे न उतरने दें (गिरने न दें) (न अवसादयेत्) क्योंकि (हि) शुद्ध मन ही (आत्मा एव) जीवत्व अभिमानी बुद्धि का (आत्मानः) उपकार करने वाला मित्र है (बन्धुः), मन ही (आत्मा एव) जीवात्मा का (आत्मनः) शत्रु है (रिपुः)।

भावार्थ इस प्रकार हुआ—

“मनुष्य को अपने आप को स्वयं अपने द्वारा ही ऊँचा उठाना चाहिए और अपने आपको अधोगति में नहीं डालना चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य (आत्मा) आप ही तो अपना मित्र है और वास्तव में यही आत्मा आप ही अपना शत्रु है।”

अपनी सहायता स्वयं करो

यहाँ युद्धक्षेत्र में खड़े अर्जुन के लिए गीतोपनिषद् का एक ही संदेश है, जो योगेश्वर के श्रीमुख से निस्सृत हुआ है—“अपनी सहायता स्वयं करो।” जो अपनी सहायता करता है, परमात्मा सहित सभी दैवी शक्तियाँ आकर उसकी मदद करती हैं। “दैव-दैव आलसी पुकारा”— एक जानी-मानी उक्ति है। भाग्य की शरण में, दैवी सहायता के लिए याचना-गुहार लगाने वालों को आलसी-प्रमादी-दीर्घसूत्री कहा जाता है। अतः सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि मनुष्य को स्वयं अपनी ही मदद करने के लिए आगे आना चाहिए। मनोविज्ञान की यह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि जितने भी सफलता के शिखर पर पहुँचे हैं या पहुँचते हैं, वे सदैव अपनी आत्मशक्ति का आश्रय लेकर, उसे सशक्त बनाकर ही पहुँचे हैं।

सांसारिक मानव होने के कारण हम जब कभी भी किन्हीं कठिनाइयों में फँस जाते हैं, उनमें से अपने को उबारने के लिए हम सामान्यतः दूसरों की ओर निहारते हैं। लगता है कि इन्हीं मित्रों, हमारे सहयोगी-साथियों में से हमें कोई मदद कर देगा। अपनी ओर हम देखते भी नहीं। लौकिक जीवन में यह तथ्य ठीक भी है कि दूसरों की हमने कभी सहायता की है, हमारी सहायता वे करेंगे; किंतु आंतरिक जीवन में ऐसा नहीं है। हमारी आंतरिक व्यवस्था में हमारे अलावा, हमारे आत्मबल के अलावा और कोई शक्ति हमारी मदद नहीं कर सकती। आत्मविकास के लिए हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से स्वयं निज का पुरुषार्थ ही करना होगा, यह एक स्पष्ट सूत्र इस प्रसिद्ध श्लोक में दिया गया है।

हमारे निकट का एक ही संबंधी हमारा मन

इस शीर्षक से परमपूज्य गुरुदेव ने १९६७-६८ के दिनों में एक पुस्तक भी लिखी है—उद्धरेत् आत्मनाऽत्मानं। परम पूज्य गुरुदेव लिखते हैं—“मन हमारा सबसे निकट का संबंधी है। पत्नी, बच्चे, भाई, मित्र, पड़ोसी तो दूर, वह शरीर से भी अधिक समीप रहने वाला हमारा स्वजन है। शरीर से तो सोते समय संबंध ढीले हो जाते हैं, मरने पर साथ छूट जाता है, पर मन तो जन्म-जन्मांतरों का साथी है और जब तक अपना अस्तित्व रहेगा, तब तक उसका साथ भी छूटने वाला नहीं है। मन मुख्य और शरीर गौण है।.....मन की समझदारी से शरीर की अस्त-व्यस्तता दूर हो सकती है। शरीर परिपुष्ट होने से मनोविकार दूर नहीं किए जा सकते। शरीर की सामर्थ्य तुच्छ है, मन की महान। मन का शासन शरीर पर ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर है। उत्थान-पतन का वही सूत्रधार है। निंदा और प्रशंसा उसी की गतिविधियों की होती है। किसी को संत, ऋषि, देवदूत और महापुरुष बना देना, यह मन की

सज्जनता का ही परिणाम है।” (वाङ्मय क्र०—२२ ‘चेतन अचेतन और सुपरचेतन मन’ १.५३)

“हम स्वयं अपना उद्धार करें” यह संदेश सीधा है—किसी भी साधक के लिए, योगारूढ़ हो ध्यानयोग में प्रविष्ट होने के इच्छुक दिव्यकर्मी के लिए, गीता के मार्ग पर चलकर मन की शांति पाने वाले किसी भी मानव के लिए। यदि हम इंद्रिय-भोगों की ओर खिंचते नहीं चले जाते, हम जितेंद्रिय हैं, ऊँचे उद्देश्यों में, उच्चस्तरीय प्रयोजनों में रुचि रखते हैं, तो हम अपने निज के, अपने मन के मित्र हैं। उसको ऊँचा उठाने में हम मदद कर रहे हैं और यदि हम भोग-ऐश्वर्य के प्रवाह में खिंच जाते हैं, हम स्वयं को बिखेर देते हैं, उच्छृंखल विचारों में बहते चले जाते हैं, मनोबल कमजोर होने से कोई भी कार्य हाथ में नहीं ले पाते तो हम अपने मन के शत्रु हैं। हमारा आपा ही हमारा बंधु है और अपना आपा ही हमारा दुश्मन है। जिस दिन हम मन को मित्र बनाकर उसे जीत लेते हैं, तो फिर हम अध्यात्म-क्षेत्र के साथ लौकिक जगत् में भी एक सफल मानव बनते चले जाते हैं।

शुद्ध मन—शुद्ध अहं की शक्ति

इस श्लोक में आत्मानं, आत्मना शब्द बार-बार आया है और कहीं उसका अर्थ है विवेकयुक्त मन और कहीं है जीवत्वाभिमानी बुद्धि और कहीं शुद्ध आत्मसत्ता। आत्मसत्ता और मन की एक ही शब्द से व्याख्या करके गीताकार ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। जब हम कहते हैं कि शुद्ध मन ही हमारी बुद्धि की उन्नति करने वाला, आत्मसत्ता को ऊँचा उठाने वाला है तो हमारा आशय है कि ऐसा मन ही मुक्ति में सहायक होता है। विषयासक्त मन तो अवसादग्रस्त, गिरा हुआ मन है। वह तो जीवात्मा के लिए शत्रु की भूमिका निभाता है और पतन का कारण बनता है।

योगशास्त्र कहते हैं—तदा दृष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् अर्थात् चित्तवृत्तियों के शांत हो जाने पर द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं, अवस्थित रहते हैं। मन को जब भी विषयादि भोगों से हटाकर आत्मनिष्ठ किया, तभी निज की सच्चिदानंदधनरूपी आत्मसत्ता में अवस्थिति होगी। जीव का मन माया से ढके होने के कारण नर-पशु, नर कीटक, नर-पामर, नर-पिशाच स्तर के व्यक्तियों को अपना आत्मस्वरूप स्पष्ट दिखाई नहीं देता, जबकि देवमानव स्तर के व्यक्ति उस आवरण को हटाकर, मन को अपना मित्र बनाकर उसकी अपार सामर्थ्य से जीवन्मुक्ति का लाभ उठा लेते हैं।

फिर बंधन क्या हैं ? विषयासक्त मन ही जीवात्मा के बंधन का कारण है। सदैव उसी चिंतन में रत रहने वाला, अपनी कल्पनाओं का जगत् वैसा ही बनाने वाला व्यक्ति कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। शुद्ध मन ही मोक्ष का कारण है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः** इसी संदर्भ में कहा गया है—मनुष्य का मन ही उसके बंधन और मुक्ति का कारण है। श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं, “मन आसक्तिरहित होने से ही भगवान् का (परिष्कृत आत्मसत्ता का) दर्शन होता है। शुद्ध मन से जो वाक्य निकलता है, वही भगवान् की वाणी है। शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि आत्मा के समान है; क्योंकि उनके अतिरिक्त और कोई शुद्ध पदार्थ इस धरती पर नहीं है।” आगे वे कहते हैं, “शुद्ध मन ही जीवात्मा को ब्रह्माभिमुखी करता है और संसार-सागर से उसका उद्धार करता है। दूसरी ओर वासना में आसक्त मन जीव को नरक में गिराता है। वासनायुक्त जीव, वासनायुक्त शिव।”

सारा खेल मनःशक्ति का

सारी बात स्पष्ट है। मन ही मन को गिराता है, मन ही मन को उठाता है। सारा खेल संसार में इसी मनःशक्ति का चल रहा है। मन को

सशक्त बनाकर प्रतिकूलताओं में भी अपना अस्तित्व बनाए रख सकते हैं, स्वस्थ बने रह सकते हैं एवं उल्लास भरा जीवन बिता सकते हैं। इसी मन के दुर्बल पड़ने पर हम जीवित रहते हुए नारकीय वेदना की अनुभूति भी कर सकते हैं एवं घोर निराशा की स्थिति में जीते हुए आत्मघात करने की भी सोचने लगे हैं। समर्थ, शिवा, वाल्टेयर, नेपोलियन, गैरीबाल्डी, जोन ऑफ आर्क, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद, वीर भगतसिंह, गांधी आदि वे नाम हैं, जिनने मन की इसी शक्ति का आश्रय ले स्वयं को ऊँचा उठाया और अन्य अनेकों के लिए पथ प्रशस्त किया। “मन के हारे हार है, मन के जीते जीत” इसी आधार पर कहा जाता है। धरती पर स्वर्ग जैसी उत्कृष्ट परिस्थितियाँ विनिर्मित करनी हों, तो मन को ऊँचा उठाना होगा, मानवों में देवत्व का समावेश करना होगा, विधेयात्मक चिंतन ढेरों व्यक्तियों का बनाना होगा।

“पॉजिटिव मेण्टल एटीच्यूड” (पीएमए) विधेयात्मक मनःस्थिति की चर्चा करते हुए अगणित मनःचिकित्सक, अध्यात्मवादी चिंतक लोगों की मानसिकता में परिवर्तन कर उन्हें प्रगति के मार्ग पर बढ़ाते रहे हैं। आंतरिक व बहिरंग दोनों ही जगत् की सिद्धि का एक ही राजमार्ग है—मनःशक्ति का सार्थक सुनियोजन। ढेरों ईसाई पादरी इसी एक विषय पर अपने उद्बोधन से समूह में आत्मविश्वास जाग्रत् कर उनसे धर्मसम्मत परोपकार के अगणित कार्य संपन्न करा लेते हैं। नारमन विंसेंट पील, नेपोलियन हिल जैसे लेखकों ने इस विषय पर अगणित पुस्तकें लिखी हैं एवं ढेरों अवसादग्रस्त लोगों को नई राह दिखाई है।

शिक्षा नहीं, भीतर से उबारने वाली विद्या जरूरी

शिक्षा की, अध्यापकों की जरूरत को हम सभी समझते हैं व यह मानते हैं कि इनकी अनगढ़ को सुगढ़ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका

है। मन के लिए ज्ञानप्राप्ति हेतु अनुकूल वातावरण विनिर्मित करने में पुस्तकों-अध्यापकों-शोधशालाओं-भाषणों-वर्कशॉप-सेमीनार, सभी की उपयोगिता है। उससे कोई इनकार नहीं कर सकता; किंतु यदि उनसे मनःशक्ति का संवर्द्धन होता, तो सभी शिक्षित-भाषण सुनने वाले, सशक्त मनोबल वाले एवं सफल उद्यमी, शिक्षित या उच्च प्रतिष्ठित व्यक्ति होते। आत्मविकास की जब बात आती है तो यह बहिरंग की शिक्षा अधूरी रह जाती है, यदि हमने अपने भीतर से इसके लिए स्वतंत्र रूप से प्रयास नहीं किया। बाह्य साधन हमें नूतन विचार दे सकते हैं, परंतु अंतिम लक्ष्य तो आत्मपरिवर्तन ही है। इसकी प्राप्ति मनुष्य को ही निज का आध्यात्मिक पुरुषार्थ संपन्न करने पर होती है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं—अपने आप ही अपने आप को ऊँचा उठाओ (उद्धरेदात्मात्मानं)।

श्रीकृष्ण बार-बार अर्जुन को जीवन के चिरपुरातन ढर्रे, सोच को बदलने हेतु चेतावनी देते हैं। वे जानते हैं कि हमारी आदतें, स्वभाव, कोमोद्वेग, वासनाएँ, ईर्ष्या, द्वेष हमें बार-बार प्रभावित करेंगे। इनसे बचने और आत्मा को अपयश की ओर ले जाने वाली, पुनः फिसलने की ओर ढकेलने वाली प्रवृत्ति के विरुद्ध वे चेतावनी देते हैं। कहते हैं, अपने आपको नीचे नहीं गिरने देना चाहिए (नात्मानमवसादयेत्)। ऐसे पतनों से सावधानीपूर्वक-प्रयासपूर्वक अपने आपको बचाना चाहिए। पुरानी आदतें बड़ी कठिनाई से छूटती हैं, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह नवीन लक्ष्य को, जो विधेयात्मक है, दृढ़ता से पकड़े रहे, पीछे फिसलने से इनकार कर दे। पर्याप्त लंबे समय तक ऊँचाई पर टिका रहने वाला मनुष्य फिर गिरता नहीं, पतन के मार्ग पर उसके फिसलने के अवसर कम हो जाते हैं।

जीवन जीने की कला के महत्त्वपूर्ण सूत्र

अंतःसिद्धि का यह उपदेश प्रभु का हम सबके लिए है। गीताचार्य हमें अपनी सांस्कृतिक उन्नति के इस मार्ग में आत्मानुशासन का पाठ

पढ़ाते हैं और संकेत करते हैं कि तुम्हारी अपनी आत्मा (शुद्ध अहंकार) ही तुम्हारी सच्ची मित्र है (आत्मैवह्यात्मनो बंधुः) और तुम्हारी अपनी आत्मा (शुद्ध अहंकार) ही तुम्हारी शत्रु है (आत्मैव रिपुरात्मनः)। जीवन-दर्शन के इन सूत्रों को जिसने समझ लिया, उसे जीवन जीना आ गया। वह सच्चा दिव्यकर्मी, एक सफल जीवन जीने की कला का पारंगत बन गया। उसे प्रगति का एक आत्मावलंबन प्रधान पथ मिल गया। अब वह बाहरी परिस्थितियों, वातावरण पर निर्भर न रह आत्मजगत् के स्तर पर पुरुषार्थ कर सकता है; क्योंकि उसे उसकी सत्ता पर, अनंत संभावनाओं पर विश्वास हो गया है।

मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है—यह आत्मिकी का, अध्यात्म का मूल मर्म है। जो इस सूत्र पर विश्वास रखता है, वह संसार में कहीं भी रहते हुए अपनी आत्मशक्ति के सहारे अपने लिए अनुकूल वातावरण-परिस्थितियाँ बना लेगा। संत इमर्सन कहते थे, “तुम मुझे नरक में भेज दो, मैं अपनी आत्मशक्ति द्वारा वहाँ भी अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।” सारा तत्त्वदर्शन एक ही धुरी पर टिका है—आत्मावलंबन। हम हैं कि वातावरण का, परिस्थितियों का ही रोना रोते रहते हैं। गीताचार्य हमें बार-बार कह रहे हैं कि बाह्य अवस्थाओं, वातावरण, परिस्थितियों पर अपनी निर्भरता को समाप्त करो। चाहे वे कैसे भी क्यों न हों, बड़े आकर्षक नजर आते हों, वे न तो हमारे सच्चे मित्र हो सकते हैं और न सच्चे शत्रु ही। आत्मविश्वास के चार सोपान—आत्मावलोकन, आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण (आत्मविकास) में एकमात्र मित्र हमारा अपना आपा ही है, जो हमारे सबसे निकट है। हम स्वयं ही अपने मित्र अथवा शत्रु हैं। कोई भी दूसरा न तो हमारी सहायता कर सकता है, न ही हमें किसी तरह का नुकसान पहुँचा सकता है।

परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति प्रधान है

आज का भोगवादी विज्ञान कहता है, उपभोक्तावादी पाश्चात्य चिंतन कहता है—परिस्थितियाँ ठीक कर दो, मन स्वतः ठीक हो जाएगा। चाहे कितनी ही भौतिक जगत् की सुविधाएँ हों, चाहे वातवरण कितना ही हमारे अनुकूल साधन हमें जुटाकर दे दे, यदि हमारी मनःस्थिति कमजोर है तो वे हमारा कुछ भी लाभ न कर सकेंगे। उलटे हमें अपयश की ओर, वासनात्मक जीवन की ओर, बिगड़ती आदतों से परावलंबन की ओर धकेल देंगे। भोगवादी मानसिकता, अनुकूल सुविधाओं की बहुलता में क्यों इतने मनोरोग पनप रहे हैं? क्यों मन अशांत है? क्या कारण है कि आत्मघात की दर बढ़ती जा रही है? अवसाद (डिप्रेशन) की मनःस्थिति वाले रोगियों की संख्या क्यों बढ़ती जा रही है? असंतोष और उद्विग्नता, संक्षोभ-विक्षोभ, मानसिक तनाव इतनी बढ़ोत्तरी पर क्यों है? इन सबका एक ही उत्तर है—आत्मावलंबन छोड़कर परावलंबन का पल्ला पकड़ लेना। परिस्थितियों की विवशता का रोना रोते रह तथा अपनी आत्मशक्ति को अधोगति की ओर डाल देना। जब तक आत्मिक जगत् से पुरुषार्थ का पहला कदम नहीं बढ़ेगा, सफलता का राजमार्ग हमसे उतना ही दूर होता चला जाएगा। भगवान् उन्हीं की मदद करते हैं, जो अपनी मदद स्वयं करते हैं। हमें अपने प्रचंड मनोबल एवं अनंत शक्ति संपन्न आत्मसत्ता पर भरोसा रख उसी का आश्रय लेना चाहिए, यही पूरे इस पाँचवें श्लोक का सार संक्षेप है।



जीता हुआ मन ही हमारा सच्चा मित्र

मन किस प्रकार अपना ही मित्र एवं शत्रु हो सकता है, यह बात सहज ही एक शंका के रूप में हमारे सामने आती है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण छठे श्लोक में इस बात को विस्तार से कहते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६/६

इसका शब्दार्थ देखें—

जिस (येन) विवेकयुक्त बुद्धि द्वारा (आत्मना) मन ही (आत्मा एव) जीत लिया है—वशीभूत कर लिया गया है (जितः), मन (आत्मा) उसके (तस्य) जीवात्मा का (आत्मनः) मित्र है (बन्धुः), किंतु (तु) अवशीभूत व्यक्ति का (अनात्मनः) मन (आत्मा) शत्रु की तरह (शत्रुवत्) शत्रुता का आचरण करने में (शत्रुत्वे) प्रवृत्त हो जाता है (वर्तते)।

अर्थात् जिसने अपने आत्मा द्वारा अपने मन एवं इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया है, उसके लिए यह आत्मा मित्र है; किंतु जिसने अपने आत्मा को जीता नहीं है, उसका आत्मा ही उसका विरोधी हो जाता है और उसके प्रति बाह्य शत्रु की तरह व्यवहार करता है। जीव को वह हर प्रकार की हानि पहुँचाता है। (श्लोक ६, अध्याय ६)

कितनी सुंदर उत्तरार्द्धपरक चर्चा इस श्लोक में आई है। जिसने अपने अहंकार को जीत लिया, उसके लिए उसका बौद्धिक व्यक्तित्व मित्र है (बन्धुरात्मात्मनस्तस्य) और यदि हम किसी कारणवश अपने मन, इन्द्रियों, बुद्धि वाले पक्ष पर नियंत्रण नहीं कर पाए तो, यह अविजित बुद्धि ही हमारे विरुद्ध एक भयावह अजेय शत्रु की तरह काम करती है। यहाँ वह अवधारणा स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य का अपना आपा कब मित्र हो जाता है, कब शत्रु। जिसने अपने को जीत लिया,

अपनी इंद्रियों पर अपना स्वयं का नियंत्रण स्थापित कर लिया, उसका मन उसका मित्र है। संसार की आसक्तियों से स्वयं को हटाते चलना एवं भगवान् में मन लगाते चलना, सच्चिदानंदधन परमात्मा में स्वयं को सम्यक् रूप में स्थित करना ही एकमात्र बंधनमुक्ति का उपाय है।

मित्र-शत्रु हमारे अपने ही अंदर

हम स्वभाव से बहिर्मुखी हैं। अपने मित्र एवं शत्रु हम बाहर ही ढूँढ़ते रहते हैं। वस्तुतः बाहर—बहिरंग जगत् में न तो हमारा कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है। ये सभी हमारे भीतर अंतरंग में विद्यमान हैं। हमारा अपना अहं जो अनुशासनों के पालन की बात आने पर बाधक बनने लगता है तथा हमारे अपने बौद्धिक व्यक्तित्व-परिष्कृत आत्मतत्त्व के मार्गदर्शन में चलने से इनकार कर देता है तो यह हमारी अभीप्साओं का, आध्यात्मिक आकांक्षाओं का आंतरिक शत्रु बन जाता है। इसके विपरीत सोचें—हमारा अहंकेंद्रित व्यक्तित्व हमारे मन-मस्तिष्क के, हमारे हित के लिए निर्धारित निर्देशों और सहज प्रभुकृपावश मिले मार्गदर्शन का अनुकरण करने लगता है तो यह हमारे आध्यात्मिक विकास में सहायक, हमारी भरपूर सहायता करने वाला हमारा मित्र बन जाता है। इसीलिए आत्मनिरीक्षण-ध्यान-प्रक्रिया द्वारा अपने चित्त-मन-बुद्धि का पर्यवेक्षण—परिशोधन अत्यंत अनिवार्य है। योगेश्वर इन दो श्लोकों (पाँचवें एवं छठे)द्वारा ध्यान की पृष्ठभूमि बना रहे हैं।

ध्यान की ही महिमा है कि विश्वविद्यालय में पढ़ रहा एक साधारण-सा, किंतु तार्किक नवयुवक जो बंगभूमि में जन्मा था, नरेंद्र जिसका नाम था, स्वामी विवेकानंद के रूप में प्रसिद्धि पा सका। इसी ध्यान ने कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को, जो विषय-विलास-ऐश्वर्य भरे जीवन में जी रहे थे, आत्मबोध पाने को विवश किया। वे गौतम बुद्ध बनकर शांति और दया की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुए। अपने आपे का बोध, अपने अंतर्जगत् में प्रवेश कर किया गया

ध्यान मनुष्य के अव्यवस्थित व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित बना देता है, उसके जीवन को प्रज्वलित कर उसे बल-उत्साह और विधेयात्मक उल्लास से भर देता है—उसे अपने भाग्य का निर्माता बना देता है। “विश्वास नित्य प्रबल बनाओ कि तुम संसार के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो, अपने भाग्य के विधाता हो।” यह वाक्य सदियों से ढेर सारे मनुष्यों को महामानव बनाने की प्रेरणा देता रहा है। इस वाक्य को परमपूज्य गुरुदेव ने सर्वाधिक महत्त्व दिया। स्वयं अपने जीवन में उनने ध्यान को स्थान देकर ‘मैं क्या हूँ’ (ह्वट एम आई) पुस्तक लिखी, एक लंबी पुरश्चरण साधना (नित्य आठ हजार बार गायत्री जप, लगातार चौबीस वर्ष तक) संपन्न की एवं एक विराट् संगठन के निर्माण के निमित्त बने, जिसने इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य का नारा दिया। सतत आशावादी चिंतन, अपने आपे को अधिकाधिक प्रबल-शक्तिपुंज बनाना, यह आचार्यश्री के जीवन में ही नहीं, उनकी प्रेरणाओं, लेखन व ओजस्वी वाणी में स्थान-स्थान पर दिखाई देता है।

आत्म निर्माण से युग निर्माण

युग निर्माण योजना का मूलमंत्र है—आत्मनिर्माण। हो सकता है कि दूसरे हमारा कहना नहीं मानें, पर हमारा अपना आपा तो हम जीत सकते हैं। ‘अपना सुधार ही संसार की सर्वश्रेष्ठ सेवा है’ वाक्य जन-जन को देने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने बार-बार कहा कि हम यदि बदलेंगे, मजबूत बनेंगे, आत्मिक निर्माण की ओर चलेंगे, तो युग स्वतः बदलेगा। आध्यात्मिक दृष्टि से संपन्न-विकसित देवमानवों का समुदाय खड़ा होने लगेगा। व्यक्ति-निर्माण से ही शुरुआत होती है, फिर परिवार-समाज-राष्ट्र इस क्रम से सारा विश्व नए विधान के अनुरूप खड़ा होने लगता है। परमपूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक ‘उद्धरेत् आत्मनाऽत्मानं’ में लिखते हैं, “अध्यात्म विद्या का प्रथम सूत्र यह है कि प्रत्येक भली-बुरी परिस्थिति का उत्तरदायी हम अपने आप को मानें। बाह्य समस्याओं का

बीज अपने में ढूँढ़ें और जिस प्रकार का सुधार बाहरी घटनाओं-व्यक्तियों एवं परिस्थितियों में चाहते हैं, उसी के अनुरूप अपने गुण, कर्म, स्वभाव में हेर-फेर प्रारंभ कर दें।” (पृष्ठ ३)

परमपूज्य गुरुदेव आगे लिखते हैं, “कहावत है कि अपनी अक्ल और दूसरों की संपत्ति चतुर को चौगुनी और मूर्ख को सौगुनी दिखाई पड़ती है। संसार में व्याप्त इस भ्रम को महामाया का मोहक जाल ही कहना चाहिए कि हर व्यक्ति अपने को पूर्ण निर्दोष एवं पूर्ण बुद्धिमान मानता है। न तो उसे अपनी त्रुटियाँ सूझ पड़ती हैं और न अपनी समझ में कोई दोष दिखाई देता है। इस एक ही दुर्बलता ने मानव जाति की प्रगति में इतनी बाधा पहुँचाई है, जितनी संसार की समस्त अड़चनों ने मिलकर भी नहीं पहुँचाई होगी।” (पृष्ठ ७)

पूज्यवर के इस चिंतन के साथ इस छोटे श्लोक का मर्म यदि समझ लिया जाए, तो जीवन एक कलाकार की तरह जिया जा सकता है। जैसा हम सोचते हैं, विधेयात्मक या निषेधात्मक, हमारा आभामंडल वैसा ही बनता चला जाता है। जिसका मन जीता हुआ है, इंद्रियों पर, विषय-वासनाओं पर जिसका नियंत्रण है, वह निश्चित मानिए कि अपने आकर्षक आभामंडल से अगणित लोगों को प्रभावित कर उन्हें भी उसी दिशा में गतिशील कर देगा। जिसका मन इंद्रियों का गुलाम है, वह क्या तो किसी को प्रभावित करेगा, खुद ही उस प्रवाह में बहता रहेगा, अपने जीवनदेवता की दुर्गति करता दिखाई देगा। इस छोटे अध्याय में ध्यान जैसे विषय पर आने से पूर्व आत्मसंयमयोग नामक इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण बार-बार व्यक्ति को अंतर्मुखी बन अपनी अंतर्जगत् की यात्रा करने हेतु सम्यक् मार्गदर्शन कर रहे हैं। उद्देश्य उनका एक ही है कि उसकी चित्तवृत्तियाँ गड़बड़ाने न पाएँ, वह वैचारिक प्रदूषण से भरे इस समाज में कम-से-कम अपने चिंतन को ऊर्जावान बनाए रखे। दिव्यकर्मों के लिए यह अत्यंत अनिवार्य है।

पराशांति को पाने का मार्ग

जिसने अपने मन को जीत लिया है, वह किन्हीं भी परिस्थितियों का सामना कर सकता है। परिस्थितियाँ उसके लिए बाधित नहीं होती। उसका मनोबल इतना प्रचंड होता है कि वह फिर किसी भी परिस्थिति से अप्रभावित रह अपनी आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करता चलता है। उसकी आत्मा उसके वश में होती है। यही नहीं, वह उस पराशांति को पहुँचा हुआ होता है, जहाँ उसकी परम आत्मा उसके सामने सहज ही प्रकट रहती है। श्री अरविंद के शब्दों में, “यह समाधिस्थ परम आत्मा सदा, हर पल, मन की जाग्रत अवस्था में भी, जब वासना और अशांति के कारण मौजूद हों तब भी, शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि के प्रसंग होने पर भी अपनी वृत्तियों को भली-भाँति शांत बनाए रखता है।” श्री गीताजी अध्याय छः के सातवें श्लोक में इसी भाव को इस तरह स्पष्ट करती हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ६/७

पहले शब्दार्थ देखते हैं— जितेन्द्रिय(जितात्मनः) राग-द्वेषरहित मनुष्य का (प्रशान्तस्य) शुद्ध जीवात्मा (परमात्मा) शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि में (शीतोष्ण सुखदुःखेषु) तथा (तथा) मान और अपमान में (मानापमानयोः) सदैव आत्मसत्ता में ही निवेशित रहता है (समाहितः)।

अर्थात् वह व्यक्ति, जिसने अपनी इंद्रियों को नियंत्रित कर लिया है और जिसके अंतःकरण की वृत्तियाँ भलीभाँति शांत हैं, उसका मन सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मानापमान में निरंतर सच्चिदानंदधन परमात्मा में ही नियोजित रहता है। (अध्याय ६, श्लोक ७)

परमात्मा समाहित:

इसका मतलब यह हुआ कि उसके ज्ञान में सिर्फ परमात्मा है और कुछ है ही नहीं। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है एवं यह ध्यान से प्राप्त होती है, यह श्रीकृष्ण स्पष्ट कर रहे हैं। संयम की परिणति बड़ी विलक्षण है। इसका परिपालन करने पर हम सबके लिए वह दिव्य अनुभव संभव है, जिसमें हर क्षण हमें परमात्मा का सान्निध्य मिलता रहता है। ध्यान मात्र मन का व्यायाम या कसरत नहीं है, यह तो सीधे परमात्मा से संबंध स्थापित कराने वाली साधना है, पर यह इतनी आसान भी नहीं है। इसके लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—(१) जिसने अपने ऊपर नियंत्रण स्थापित कर लिया हो (जितात्मनः), (२) जिसका मन पूर्णतः शांत हो (प्रशान्तस्य), वह सदैव परमात्मा की निरंतर बनी रहने वाली अनुभूति का लाभ लेता है (परमात्मा समाहितः)। फिर चाहे परिस्थितियाँ कैसी भी हों, उसका मन प्रचंड शक्ति से संपन्न होने के कारण जरा भी नहीं गड़बड़ाता। स्वयं पर नियंत्रण एवं मन की शांति—ऐसी दो अवस्थाएँ हैं, जिनसे हम इंद्रियों के बहिर्मुखी स्वभाव और मन-बुद्धि की बहिरंग प्रधान प्रवृत्तियों को नियमित बना पाते हैं। यह नियमन साधक के व्यक्तित्व के तीनों स्तर शरीर-मन-बुद्धि, इन तीनों स्तरों पर होना है, इसीलिए गीताकार यहाँ मुहावरे का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं, चाहे कितनी भी ठंडी या गरमी का वातावरण (शीत उष्णेषु) हो, सुख-दुःखप्रधान परिस्थितियाँ (सुखदुःखेषु) हों और मान-अपमान की (मानापमानयोः) स्थिति हो, वह सदैव परमात्मा में लीन रह अपने अंतरंग—मन को शांतिपूर्वक साधता हुआ जीवन जीता है। शीत-उष्ण की बात शरीर के स्तर पर, सुख-दुःख की बात मन के स्तर पर तथा मान-अपमान की बात बौद्धिक स्तर पर लागू होती है। ये अनुभव दोनों प्रकार के हो सकते हैं—अनुकूल भी, प्रतिकूल भी।

मुक्तपुरुष जो बिना किसी कामना या आसक्ति के कर्म करता है,

उस पराशांति की स्थिति में पहुँचा हुआ होता है, जहाँ उसकी परमात्मसत्ता उसके सामने सतत विद्यमान रहती है। यह सत्ता मन की जाग्रत् अवस्था में भी, वासना और अशांति की परिस्थितियों के मौजूद होते हुए भी तथा शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वंद्वों की स्थिति में भी समाहित रहती है। यह मनुष्य की उच्चतर विकसित स्थिति है।

ध्यानयोग की पूर्व तैयारी

वस्तुतः दिव्यकर्मी साधक, जिसे श्रीकृष्ण ध्यान करना सिखा रहे हैं, इस समय अर्जुन के रूप में उनके समक्ष मौजूद है। हम सबका वह एक प्रतीकरूप में माध्यम है, अपने गुरु योगेश्वर से यह जानना चाह रहा है कि जब मैं इस स्थिति में प्रवेश करूँगा तो क्या परेशानियाँ आ सकती हैं? श्रीकृष्ण तो मन को पढ़ लेते हैं। अभी अर्जुन का एक प्रश्न थोड़ी देर बाद प्रतीक्षित है, जिसमें वह मन की चंचलता की बात कहता है; किंतु उससे भी पूर्व श्रीकृष्ण उसे ध्यानयोग की तैयारी के विषय में बता रहे हैं। जब व्यक्ति चित्त में प्रवेश करता है तो चित्त के संस्कार, कई प्रकार की यादें, अतृप्त कामनाएँ मस्तिष्क-पटल पर आने लगती हैं। ऐसी स्थिति में दिखने वाला मन व देखने वाला मन दोनों ही द्रष्टा बन जाते हैं। यदि इंद्रियाँ मजबूत नहीं हुई, उन पर नियंत्रण नहीं हुआ तो ध्यान लगाना तो दूर, कई प्रकार के चित्र-विचित्र दृश्य कुसंस्कारों के 'प्रोजेक्शन' के रूप में दिखाई देने लगेंगे। हमारा अचेतन परिष्कृत हो, इंद्रियाँ हमारी अपने ही नियंत्रण में हों तथा हम शांत मनःस्थिति में हों, तो हमारे ध्यानस्थ होने की तैयारी पूरी हो जाती है। जब मनुष्य संसार की आसक्तियों से हटकर भगवान् की ओर बढ़ता है, तो उसका मन धीरे-धीरे शांत होने लगता है। श्री रामकृष्ण परहंस के अनुसार, "जैसे-जैसे हम काशी की ओर बढ़ते हैं, कलकत्ता पीछे छूटता चला जाता है।" इस पंक्ति के पीछे संकेत है कि जैसे-जैसे भोगवाद से पीछा छूटता है, व्यक्ति मन की शांति, आत्मिक प्रगति की ओर बढ़ने लगता है।

शान्त मनःस्थिति एक उपलब्धि

सांसारिकता में रमा मन हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान से तो प्रभावित होता है; परंतु जैसे-जैसे आध्यात्मिकता का रंग चढ़ने लगता है, मनुष्य क्रमशः इनसे परे हो जाता है। जैसे ही इन भौतिक कारणों से स्वयं को परे किया, व्यक्ति का मन उसी अनुपात में शांत होता चला जाता है। सातवें श्लोक का मर्म यह है कि तुम स्वयं को परमात्मा को अर्पित कर दो, फिर लौकिक दुःख तुम्हें परेशान नहीं करेंगे, तुम्हारी मनःस्थिति को तनावग्रस्त नहीं होने देंगे। कर्मयोग के साथ शरणागति का भाव बार-बार अपनाने हेतु प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं और उस दिव्य अनुभव का लाभ लेने हेतु संकेत कर रहे हैं, जिसकी व्याख्या उनने अगले आठवें श्लोक में की है। इसकी चर्चा बाद में, अभी अपने मन को जीतने की चर्चा पूरी करें। भगवान ने छठे श्लोक में कहा कि जिसका मन और चित्त पूरी तरह जीत लिया गया है, उसका वह मित्र है। कोई भी जानना चाहेगा, यह मित्र बनाने का उपाय। यह उपाय वे सातवें श्लोक में बताते हैं कि संसार से मन को हटाते चलो, परमात्मा में उसे अर्पण करते चलो। फिर कुछ भी तुम्हें व्यापेगा नहीं—न मान, न अपमान, न दुःख, न सुख। बुद्ध व महावीर की चित्तवृत्तियाँ भगवान् में विलीन हो गई थीं। साधारण सांसारिक मनुष्यों ने उन्हें गाली दी, अपशब्द कहे, पर वे सतत् प्रसन्न। वे जानते थे कि उनके दुर्वचन उन्हें क्यों व्यापेंगे, वे तो परमात्मसत्ता में लीन, सदैव प्रसन्न एवं शांत मनःस्थिति के प्राणी थे। सचमुच वे परमात्मारूप ही हो गए थे। गीता में आत्मसंयमयोग की यात्रा आत्मा की परमात्मा से तद्रूप होने की यात्रा है।



कैसे बनें पूरी तरह युक्तपुरुष

दिव्यकर्म-साधक बनें

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने शिष्य को बड़े स्नेह के साथ समझा रहे हैं कि आत्मा को परमात्मा से मिलाना—तद्रूप कराना ही योग का, ध्यान का परमलक्ष्य होता है। संसार से मन को हटाते चलें; शरणागति भाव विकसित करें; परमात्मा में अपने जीते हुए मन को अर्पित करते चलें—फिर हम सतत प्रसन्न बने रह सकते हैं। जब हमारे ज्ञान में—मन, बुद्धि, चित्त समुच्चय में मात्र परमात्मा विद्यमान है और कुछ नहीं तो इससे श्रेष्ठ आत्मिक प्रगति की स्थिति और क्या हो सकती है! इस स्थिति को पहुँचने के बाद चैतन्यता की निरंतरता एक सिद्धि के रूप में प्राप्त होती है। ऐसे व्यक्ति—दिव्यकर्म महामानव, जिसने अपने व्यक्तित्व के सभी धरातलों पर एक समुचित तालमेल बिठा लिया है, उसकी व्याख्या भगवान् आठवें श्लोक में करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ - ६/८

शब्दार्थ इस प्रकार हुआ—

ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके तृप्तचित्त हुआ (ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा), निर्विकार (कूटस्थः), इंद्रियों को जीतने वाला (विजितेंद्रियः), मिट्टी-पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टि रखने वाला (समलोष्ट-अश्म-काञ्चनः) योगी पुरुष (योगी) ब्रह्म में प्रतिष्ठित (युक्तः इति), कहे जाते हैं (उच्यते)।

भावार्थ देखें तो कुछ इस तरह बनता है—

“जिसका अंतःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है। शास्त्रोपदेशों से प्राप्त ज्ञान और अपरोक्षानुभूति द्वारा परितृप्त, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इंद्रियाँ भली भाँति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी,

पत्थर और सुवर्ण एक समान हैं, वह योगी—दिव्यकर्मी पूर्णतया युक्तपुरुष अर्थात् भगवत्सत्ता को प्राप्त है; ऐसा कहा जाता है; (छठे अध्याय का आठवाँ श्लोक)।

यह है गीता का सार

प्रस्तुत श्लोक अपने आप में समग्र गीता है। सारा उपदेश मानो इस एक ही श्लोक में ऐसे समा गया है, जैसे कि एक गुणसूत्र में सारे शरीर का विराट् वैभव समाया होता है। श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि पूर्ण युक्तपुरुष (पूरी तरह से योग में स्थित) वह है, जो ज्ञान-विज्ञान में तृप्त है। जब उसका शाब्दिक तर्कसम्मत ज्ञान अनुभव में परिणत हो गया हो। ऐसा ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। इस तरह से ज्ञान को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में अचल-निर्भय हो खड़ा रहता है और अपने दिव्य अनुभव में पूरी दृढ़ता से आरूढ़ रहता है। इसी कारण उसे 'कूटस्थ' भी कहते हैं। कूटस्थ शब्द का वेदव्यास ने यहाँ प्रयोग एक प्रतीक के रूप में किया है। शब्दशः अर्थ देखा जाए तो यह होगा निहाई की भाँति स्थिर। निहाई पर ही लोहार लोहे के टुकड़ों को पीट-पीटकर तरह-तरह के आकार में ढालता रहता है। निहाई वैसी ही बनी रहती है; किंतु उस पर ठोंक-पीटकर भिन्न-भिन्न आकारों में ढाले गए टुकड़े बदलते रहते हैं। एक दिव्यकर्मी-योगस्थ पुरुष को अपने स्वरूप से, जो उसने बड़े सोच-समझकर विवेकपूर्वक बनाया है, बदलना नहीं चाहिए, उस स्थिति से च्युत नहीं होना चाहिए, चाहे संपर्क में आने वाले व्यक्ति बदल जाएँ, लौकिक प्रवाह में बह क्यों न जाएँ। यह इस काव्य की शोभा है कि कुछ शब्दों के माध्यम से कवि ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुँह से वह कहलवा लिया है, जो बड़ी-बड़ी व्याख्या से भी संभव नहीं हो पाता।

योगी की विशेषताएँ

योग में स्थित श्रीकृष्ण अपने ईश्वरीय स्वरूप में जो तथ्य अर्जुन को समझा रहे हैं, वह है पूर्ण योगी का स्वरूप, जो ध्यान की स्थिति में

आने से पूर्व अपने को कैसा बनाए। पहला उनसे बताया—ज्ञान और विज्ञान में तृप्त, दूसरा बताया—पूरी तरह अविकारी (कूटस्थ) तथा तीसरा है जितेंद्रिय होना अर्थात् इंद्रिय विषयों में तनिक भी आकृष्ट न होकर उन पर अपना नियंत्रण होना। इन तीन विशेषताओं वाला, ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा, अविकारी, जितेंद्रिय व्यक्ति ही भगवान की दृष्टि में ऐसा योगी है, जिसे ब्रह्म में प्रतिष्ठित योगी कहा जा सकता है, किंतु ऐसे व्यक्ति को बहिरंग जगत् में पहचानें कैसे? उसके लक्षण क्या होते हैं? श्रीकृष्ण आगे इसी श्लोक में कहते हैं “समलोष्ट-अश्म-काञ्चनः” अर्थात् वह मिट्टी-पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टि रखता है। उसके लिए मिट्टी का ढेला, पारस पत्थर या कीमती हीरा और स्वर्ण शिला भी महत्त्वहीन हैं—एक समान हैं। विजितेंद्रिय होते ही वह कामिनी से तथा ‘समलोष्ट-श्मकाञ्चनः’ होते ही कंचन के प्रलोभनों से मुक्त हो गया है। अब उसे लोभ, लालच, तृष्णा जैसे विकार परेशान नहीं करते। बहिरंग जगत् में उसे आनंद नहीं आता। उसे वहाँ संतुष्टि, सुख, तृप्ति नहीं मिलती; क्योंकि उसे अपने अंतरंग जगत् में अखंड आनंद के स्रोत का पता लग गया है।

कामिनी-कांचन से परे

ठाकुर श्री रामकृष्ण परमहंस अपने भक्तगणों को, जो कि सैकड़ों की संख्या में उनके पास आते थे, कहा करते थे कि कामिनी-कांचन, दोनों चीजें ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में विशेष रूप से बाधक हैं। बुरे आचरण वाली नारी में भी वे जगन्माता का साक्षात् स्वरूप देखते थे और इसी भाव से उसका आदर करते थे। उनका कांचन-त्याग इतना पूर्ण था कि यदि वे पैसे या रुपये को छू लेते तो इनकी उँगलियाँ ही टेढ़ी-मेढ़ी होने लगती थीं। कभी-कभी वे गिनियों और मिट्टी को एक साथ अंजुलि में लेकर गंगाजी के किनारे बैठ जाते थे और मिट्टी-पैसा, पैसा-मिट्टी (टाका-माटी, माटी-टाका बंगाली में) कहते हुए दोनों

चीजों को मलते-मलते श्री गंगाजी की धार में बहा देते थे। वे कहते थे, “विषय की वासना तथा कामिनी-कांचन पर मोह रखने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यदि विषयासक्ति रहे तो संन्यास लेने पर भी कुछ नहीं होता—जैसे थूक को फेंककर फिर चाट लेना।” (श्री रामकृष्ण वचनमृत, भाग प्रथम, परिच्छेद ३५, पृष्ठ ३१२)

इसी तरह एक प्रसंग में वे कहते हैं, “जिस कमरे में इमली का अचार और पानी का मटका है, यदि उसी कमरे में सन्निपात का रोगी भी रहे तो बीमारी कैसे दूर हो? फिर इमली की तो याद आते ही मुँह में पानी भर आता है। पुरुषों के लिए स्त्रियाँ इमली के अचार की तरह हैं और विषय की तृष्णा तो सदा लगी ही है। यही पानी का मटका है। इस तृष्णा का अंत नहीं है। सन्निपात का रोगी कहता है कि मैं एक मटका पानी पीऊँगा। बड़ा कठिन है। संसार में बहुत कठिनाइयाँ हैं। जिधर जाओ, उधर ही कोई-न-कोई बला आ खड़ी होती है।” (उपर्युक्त, परिच्छेद ४०, पृष्ठ ३५६, ३५७)

तीव्र वैराग्य मन से हो

श्री रामकृष्ण कहते थे, “योगी को, साधक को अंदर से तीव्र वैराग्य भाव होना चाहिए। ईश्वर प्राप्ति इससे कम में नहीं होगी। कामिनी और कांचन ईश्वर के मार्ग के विरोधी हैं, उनसे मन को हटा लेना चाहिए।” (श्री रामकृष्ण वचनमृत, भाग तीन, परिच्छेद ७, पृष्ठ ११८) उनका मत था, “ईश्वर का आनंद जिसे एक बार मिल गया, उसे संसार काकविष्ठावत् जान पड़ता है।” परम पूज्य गुरुदेव ने भी कामिनी और काम के विषय में लिखा है। वे ‘आध्यात्मिक काम विज्ञान’ नामक पुस्तक में लिखते हैं— “काम का अर्थ विनोद, उल्लास और आनंद है। मैथुन को ही काम नहीं कहते। कामक्षेत्र की परिधि में वह भी एक बहुत ही छोटा और नगण्य-सा माध्यम हो सकता है, पर वह कोई निरंतर की वस्तु तो है नहीं।....स्नेह, सद्भाव, विनोद, उल्लास की

उच्चस्तरीय अभिव्यक्तियाँ जिस परिधि में आती हैं, उसे आध्यात्मिक काम कह सकते हैं। नर और नारी को भी इस भावप्रवाह से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।” (पृष्ठ ३५)

दोनों महापुरुषों के कहने की शैली में अंतर है, पर आशय वही है। अधिकांश लोग शारीरिक ब्रह्मचर्य तो साध लेते हैं, पर मन उनका कामुक बना रहता है, उस स्तर पर ब्रह्मचर्य नहीं सध पाता। गीताकार कहते हैं—निर्विकार रहो और अपनी इंद्रियों को जीतो। तृष्णा का कहीं कोई अंत नहीं है। हम कितना भी प्रयास करें, कभी तृष्णा हमारी पूरी नहीं होगी। मनुष्य आज जिस तरह पैसे के पीछे भाग रहा है, उसे देखकर लगता है कि इस अंतहीन दौड़ ने कितने कष्ट दिए हैं—शारीरिक रोगों के साथ मानसिक तनाव, अशांति, फिर भी यह बात समझ में नहीं आ रही। परमपूज्य गुरुदेव कह रहे हैं, “प्रसन्न रहने के दो ही उपाय हैं—अपनी आवश्यकताएँ कम करें और परिस्थितियों से तालमेल बिठाएँ।” पर क्या मनुष्य यह कर पाता है?

गीताकार ने जो शब्द प्रयुक्त किया है—‘समलोष्टाश्म-कांचनः’ उसका एक उदाहरण राका व बाँका हैं। चैतन्य महाप्रभु ने ‘राका तारे बाँका तारे’ नाम से एक पूरी स्तुति लिखी है। अभाव की स्थिति में रहते हुए दोनों ने भगवत्कर्मों को रोका नहीं। पति ने देखा कि सोने का कंगन पड़ा है, पत्नी कहीं न देख ले, उसे लोभ न आ जाए तो उसके ऊपर मिट्टी डाल दी। पत्नी ने कहा—मिट्टी के ऊपर मिट्टी डाल रहे हो। जब सोना हमारे लिए मिट्टी है तो फिर लोभ कैसा! यह आदर्श पत्नी ने तब प्रस्तुत किया, जब वे सब कुछ अपना परहितार्थाय बाँट चुके थे एवं स्वयं के पास कुछ भी नहीं था। राका और बाँका भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जो सोने व मिट्टी में भेद न रखे, वह आदमी योगी के रूप में स्थापित हो जाता है।

कुछ पूर्व शर्तें

शास्त्रों का ज्ञान और अनुभूतिजन्य विज्ञान, निर्विकार भाव तथा जितेंद्रिय बन पाने की सिद्धि मनुष्य को इस प्रकार पूर्णतः एक योगी साधक बना देती है। फिर उसे जीवन-साधना के क्षेत्र में कहीं व्यवधान नहीं आता। उसका ध्यान जब लगता है तो फिर ईश्वर में ही लगता है। वह आनंद के स्रोत में जाकर स्थित हो जाता है। इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए भगवान् नवें श्लोक में कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ -६/९

इसका शब्दार्थ पहले देखते हैं—

बंधु (सुहृत्), हितैषी मित्र (मित्र), शत्रु (अरि), झगड़ों, वाद-विवादों में उपेक्षा का रुख रखनेवाले (उदासीन), मध्यस्थ (मध्यस्थ), विद्वेषी द्वेष्य तथा बंधु में (बंधुषु), साधुओं में भी (साधुषु अपि) और पापी या अनिष्टकारी में भी (पापेषु च अपि) समान बुद्धि रखने वाले, समान समझने वाले (समबुद्धिः) श्रेष्ठ होते हैं (विशिष्यते)।

भावार्थ कुछ इस प्रकार बनता है—

जिसकी हितैषी, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बंधुगण, धर्मात्मा तथा पापीजनों में समदृष्टि है, वह अत्यंत श्रेष्ठ है।

हम यह स्पष्ट चिंतन रखें कि ध्यान की स्थिति में जाकर परमात्मा में प्रतिष्ठित होने की यह पूर्वभूमिका चल रही है। यदि व्यक्ति के मन में किसी के भी प्रति कुछ भिन्न भाव है—वैसा ही है, जैसा उसके मन में है, द्वेष का, शत्रुता का अथवा हितैषी-मित्र होने का, साधुजन और पाप में लित होने वाले पुरुष का, तो फिर उसका चित्त अभी द्वंद्वों से, विक्षोभों से मुक्त नहीं हुआ। अचेतन ऐसी स्थिति में तैयार नहीं है—ध्यान की स्थिति में जाने को। अपना हो या पराया, मित्र हो या शत्रु—हमारी दृष्टि सबके प्रति एक जैसी हो। ऐसा नहीं कि हम

भिन्न-भिन्न लोगों के साथ अपने संबंधों में उनके प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाएँ। एक योगी पुरुष इनसे परे होता है।

हो श्रेष्ठ एकत्व का भाव

ये जो अंतर हम रखते हैं, वे तो केवल हमारे भौतिक स्तरों अर्थात् शारीरिक हाव-भाव, हमारे भावनाशील स्वभाव तथा बौद्धिक मूल्यां में ही होते हैं। यदि हम गहराई में जाकर विचारें, तो हम पाएँगे कि हम तो विशुद्ध आत्मा हैं, शुद्ध अहं में स्थित परमात्मा का एक अंश। सब हृदयों में जो जीवन स्फुल्लिंग हमें दिखाई दे रहे हैं, वे तो एक ही हैं। भिन्न-भिन्न कहाँ हैं। जिसने स्वयं को अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित कर लिया, वह तो योगारूढ़ ब्रह्मणि स्थितः अथवा युक्तः (योगी) हो गया। जिसने यह पहचान लिया कि उसके भीतर की आत्मा ही सबकी आत्मा (सर्वभूतात्म-भूतात्मा) है, तो फिर उसके बाद उसके लिए सब प्राणियों, पदार्थों में छिपे बैठे इस श्रेष्ठ एकत्व के अनुभव के बिना बाह्य संबंधों का निर्वाह असंभव है।

ऐसा योगी पुरुष न किसी से मित्र या शत्रु का भाव रखता है, न साधु या पापी पुरुष का। उसके लिए आत्मा के स्तर पर सभी समान होते हैं। जब इस स्तर का आत्मानुभव होने लगता है तो हमारे अंतस् से ऐसी ज्योति प्रज्वलित होती है, जो आस-पास के संसार को भी देदीप्यमान-आलोकित कर देती है। तब हमारी जीवनदृष्टि बदल जाती है। वह अहंकार केंद्रित नहीं होती। (अयं निजः परोवेति) यह मेरा है यह दूसरा है, यह भाव नहीं रहता; क्योंकि ऐसी गिनती-मूल्यांकन (गणना लघुचेतसाम्) छोटे-संकीर्ण मनोवृत्ति वाले ही करते हैं। विराट् हृदय वाले—शुद्ध अहं में स्थित (उदारचरितानां तु) सारी विश्ववसुधा को अपना परिवार मानते हैं (वसुधैव कुटुंबकम्)। यह विश्वव्यापी भाव होने व एकत्व का भाव बने रहने से व्यक्ति की आंतरिक संरचना में आनंद, शांति व तृप्ति स्थापित हो जाती है। फिर

उसकी तैयारी पूरी हो जाती है कि परमात्मा उसके माध्यम से झरे, अपनी पूरी चैतन्यता के साथ उसकी ऊर्जा उसमें से बहे। ऐसा व्यक्ति ही ध्यानस्थ योगी बन सकता है। हम सभी, जो पूर्ण योगी, दिव्यकर्म, ध्यान-धारणा करने योग्य साधक बनना चाहते हैं, पहले यह एकत्व भाव स्थापित करें। तो ही हम सही मायने में परमात्मा के एक उपकरण (वि एन इंस्ट्रूमेंट इन हैंड्स ऑफ गॉड) बन पाते हैं।

यात्रा की पूर्व तैयारी अच्छी हो

जो यात्रा योगेश्वर ने इंद्रियजयी होने, राग-द्वेषरहित होने, आत्मनिष्ठ बनने, शीत-उष्ण आदि द्वंद्वों का अतिक्रमण कर ब्रह्म में समाहित होने, मान-अपमान से परे चलने से आरंभ की थी (श्लोक नं. ७) उसे उनने ज्ञान-विज्ञान से परितृप्त, निर्विकार, कूटस्थ बनने एवं मिट्टी-सोने में अंतर न कर तृष्णामुक्त होने तक आगे बढ़ाया (आठवाँ श्लोक) एवं अब जाकर उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं कि एकत्व का भाव हर किसी के प्रति, शत्रु और मित्र, बंधु या उदासीन या मध्यस्थ तथा पापी और साधु व्यक्ति के प्रति समबुद्धि बनाए रखने के रूप में स्थापित करें। ऐसे व्यक्ति ही श्रेष्ठ योगी या साधक बन पाते हैं। पाठक समझ सकते हैं कि अंतर्जगत् की यात्रा की पूर्व तैयारी कितनी महत्त्वपूर्ण है। उसी की विशद व्याख्या छोटे अध्याय के इन प्रारंभिक श्लोकों में आई है। इतना हो जाए तो फिर योगाभ्यास हेतु परिपक्व स्थिति बन जाएगी। यहाँ हम युगगीता का तीसरा खण्ड समाप्त करते हैं। ध्यानयोग का विस्तृत विवेचन युगगीता के अगले खण्ड में विस्तार से आया है जो छोटे अध्याय के दसवें श्लोक से सैंतालीसवें श्लोक की युगानुकूल व्याख्या के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

गायत्रीतीर्थ-शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) 249411

Ph.No.Off.- 01334-260602, 260403, 261328 Fax-260866

www.awgp.org shantikunj@awgp.org